

योग-दीक्षा

श्री अनिलवरण राय का ओम्-किन्द से
योगाजिज्ञासा-विषयक पत्र-व्यवहार

अदिति सम्प्रदाय
बारहवां पुष्प

सम्पादक
डा. इन्द्रसेन

F.A.L-84
अनुवादक
श्री कृष्णशम्भु
52845

प्रकाशक
अदिति कार्यालय
श्रीअरविन्द आश्रम, पाटिचेरी
प्रथम संस्करण १५००
अगस्त १९४८

दो शब्द

श्री अनिलवरण राय एक समय बंगाल के प्रमुख राजनीतिक कार्यकर्ता थे। स्वभाव और प्रकृति से उद्य देशसेवक और समाज-मुधारक। परन्तु उस उद्य कर्मठता की तरह में आत्म-जिज्ञासा निहित थी। उपकार और सेवा का कर्म शायद उस युद्ध जिज्ञासा के लिये स्थानापन्न व्यस्तता का रूप ही था।

समय पाकर जेल के एकान्त में वह जिज्ञासा प्रबल रूप में प्रकट हुई। श्री अनिलवरणजी ने श्रीअरविन्द का संपर्क खोजा। वह उन्हें प्राप्त हुआ और उनके जीवन का मार्ग उन्हें स्पष्ट दिखायी देने लगा। ये पत्र उसी विकास को उपस्थित करते हैं। इनकी जिज्ञासा, इनकी प्रेरणा, कैसी अद्भुत है।

—इन्द्रसेन

योग-दीक्षा

अलीपुर सेन्ट्रल जेल

१४-११-१९२४

मान्यवर महोदय,

गत २५ अक्तूबर को रेगुलेशन ३ में गिरफ्तार होकर, मैं इस समय अलीपुर सेन्ट्रल जेल में राजनीतिक कैदी हूँ और यही अब कुछ दिन के लिये मेरा मुस्तकिल पता है। बाहर कर्म-जीवन के बहुत ज्यादा बोझ से मेरी साधना को विशेष नुकसान हो रहा था। माकूम होता है इसी कारण से मैं मुझे यहाँ लायी है। सिर का बोझ उतारकर निर्विचल हो गया हूँ—अब देखा जाय कितनी दूर अग्रसर हो सकता हूँ।

हम लोग जहाँपर है वह जगह एक आश्रम की भाँति है। हम दोतल्ले पर रहते हैं—नीचे थोड़ी जगह में फूल के पौधे, आम, लीची, नीबू इत्यादि के पेड़ हैं—तरकारी भी कुछ पैदा होती है। एक जगह पीपल और बड़ के पेड़ हैं—उनके नीचे बेदी बनी हुई है और उनकी बगल में ही एक कदम का पेड़ है—इन तीन पेड़ों के नीचे बैठकर ईश्वरचिन्तन करने से बहुत शान्ति और आनन्द अनुभव करता हूँ। यह जेल आदिगंगा के पच्छिमी किनारे पर बना हुआ है—इस हिसाब से यह काशी के समान है। सुनने में आता है कि पहले यहाँपर स्मशान था। साधना के उपयुक्त स्थान है, प्राण में भी उच्च जीवन की प्राप्ति

योग-सीला

के लिये बहुत व्ययना मालूम होनी है—अब पक्ष दिखाने का भार आप लोगों के ऊपर है; श्रीअरविन्द को सब बात बतलाइयेगा।

यद्यपि गमार छोड़ आया है—नयापि जेल के भीतर आकर भी एक छोटा सा संगार इसी बीच बन गया है। हम लोग यहाँपर पाख आदमी है—हम लोगों की सेवा के लिये सात नौकर हैं। हम लोग भोजन इत्यादि अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार पाने के हकदार है। हम समाचार-पत्र के जरिये विभिन्न प्रकार की खबरे पाते हैं। यहाँपर खेलना-मालना शुरू हो रहा है, पढ़ने लिखने की भी अच्छी सुविधा है—इंग्लिश माचता है कि “हकी क्या स्वर्ग में भी आकर घान ही कूटेगी ?” यहाँपर में काम-काज की तो कोई कमी नहीं देखता। ताज खेलना, अखबार पढ़ना, बेंडमिटन खेलना, भोजनादि के बारे में जेल के अधिकारियों के साथ लड़ना-झगड़ना, नौकर-चाकरो को डांटना-इपटना—बहुत तरह के काम हैं। इन सबके बारे में साधना की दृष्टि से मेरा क्या भाव होना चाहिये—यह लिखियेगा।

उच्च जीवन प्राप्त करने के लिये श्रीअरविन्द के योग में आधार को शुद्ध करना होता है। इस संबन्ध में “योगिक साधन” पुस्तक में उन्होंने कहा है—“सबसे अच्छा यह है कि शुरू में सकल्प-शक्ति (Will) की शुद्धि के लिये प्रयत्न को केन्द्रित किया जाय। इसके लिये पहली आवश्यकता है कमफल के संबन्ध में उदासीनता (Passivity) और दूसरी आवश्यकता यह है कि जब सकल्प-शक्ति (Will) का प्रयोग किया जाय, तब चित्त और बुद्धि निष्कल (Passive) रहें।” यहाँपर चित्त और बुद्धि की निष्कलता (Pass-

योग-दीक्षा

ivity) से क्या मतलब है ? और एक स्थान पर कहा गया है कि "तुम सकल्प-शक्ति का प्रयोग मन और निम्न बुद्धि को शान्त करने के लिये करने हो और ज्ञान का प्रयोग उनको पूर्ण करने के लिये करते हो ।" इस स्थान को भी जरा अच्छी तरह से समझा दीजियेगा । मन को नीरव करने का क्या मतलब है ? और एक जगह पर है "अथवा कि मन शान्त न हो जाय, ज्ञान की सहायता वैराग्य या अभ्यास के द्वारा करनी चाहिये ।" अभ्यास और वैराग्य से किस प्रक्रिया का तात्पर्य है ?

परमहंसदेव के जीवन में यह देखा जाता है कि वे दिन रात ईश्वर-चिन्तन की साधना करते थे । हम लोगों को क्या उगी प्रकार की साधना करनी होगी—क्या समार का दूसरी समस्त चिन्ताओं और चेष्टाओं से मन को हटाकर केवल भागवत चिन्तन और ध्यान की साधना करनी होगी ? नामजप करना है किन्तु ध्यान के संबंध में क्या करना होगा, किस प्रकार से करना होगा, किसी मूर्ति-विशेष का ध्यान करने से कोई विशेष फल होता है या नहीं—इन बातों को जरा विनम्र रूप से लिखियेगा ।

खुलामा यह कि मैं एक बिल्कुल नयी अवस्था में आ पड़ा हूँ और खूब समझता हूँ कि यहाँपर साधना करने की अच्छी मुविधा है । श्री-अर्गविन्द से कहियेगा कि वे मेरी अवस्था की विवेचना करके उपदेश दें । जल्दी ही उत्तर दीजियेगा । आप मेरा नमस्कार पहूँच कीजिये । श्रीअर्गविन्द को मेरा प्रणाम कहियेगा ।

विनीत

अनिलवरण राम

योग-दीक्षा

पुनश्च—मैं जब मंदीरे गिरफ्तार हुआ उसके कुछ देर पहले स्वप्न
देख रहा था कि मानी कुछ ब्राह्मण आकर मुझे त्रिवेणी-तीर्थ ले जा
रहे हैं। क्या इसका कुछ अर्थ है ?



बहरमपुर जेल

१०-१२-२४

मान्यवर महोदय,

इतने दिन तक मैं अपने पत्र का उत्तर न पाकर विशेष चिन्तित हो गया था। आपका तीसरी तारीख का काँड़ पाकर विशेष आनन्दित हुआ। यह कहने की जरूरत नहीं कि आपका पत्र मेरे लिये देवदूत के दर्शन की भांति सम्मान की चीज है। इस समय मुझे योगसाधना की विशेष सुविधा है और परामर्श इत्यादि की आवश्यकता है, अतएव आप लोग यथासम्भव मेरे पत्रों का उत्तर देंगे। भगवान् ने जब मुयोग दिया है तो ऐसा न हो कि इस मुयोग को व्यर्थ में खो बैठे। पत्रों के बारे में यह नियम है कि मैं सप्ताह में दो पत्र लिख सकता हूँ और बाहर से जितने पत्र आवे ले सकता हूँ। इसलिये आप लोगों के साथ पत्रव्यवहार में विशेष अमुविधा की कोई बात मालूम नहीं होती। हा, यह बात तो है कि मैं जो पत्र लिखूँगा या पाऊँगा, वे सब पुलिस के द्वारा मँसूर होंगे—कিন्तु उसमें भी हम लोगों को कोई अमुविधा नहीं होगी। परिस्थिति के बारे में मैं जितना समझ पाया हूँ उसमें मालूम होता है कि मुझको बहरमपुर में ही रहना होगा। पहले हम सभीको अलीपुर में रखा गया था—उसके बाद हम लोग भिन्न भिन्न स्थानों को भेज दिये गये—एक निर्णय करके जब मुझे यहाँ लाया गया है तब यहाँसे हटाने का कोई कारण नहीं दीखता। यहाँका सब बन्दोबस्त स्थायी मालूम होता है।

योग-दीक्षा

बहरमपुर मुझे बहुत अच्छा मालूम हो रहा है। बड़े आंगन के भीतर दोतला मकान है—पत्र लिखने समय बायीं ओर मुड़ने से ही गंगा दीख पड़ती है। वातावरण यहांका शान्त और नीरव है। जेल के अधिकारियों का व्यवहार संतोषप्रद है। हम लोग यहांपर पांच हैं। सुभाष बाबू भी हम लोगों के साथ है। हम लोग अधिकांश समय कसरत करने में तथा बेंडमिशन और ब्रिज खेलने में बिताते हैं। समय निकालकर श्रीअरविन्द की अंग्रेजी पुस्तक गीता-प्रबन्ध (Essays on the Gita) के अनुवाद को भी समाप्त कर रहा हूँ—इस कार्य के लिये कोई जल्दी नहीं है, इस कारण यह काम बहुत अच्छा लगता है। गीता का द्वितीय खण्ड प्रकाशित होने ही मुझे भेज दीजियेगा। पहले मोक्षा या जेल में बैठकर उगनिषद्, अध्यात्मरामायण, भागवतादि हिन्दूशास्त्रों का अध्ययन करूंगा—किन्तु “योग और उसके उद्देश्य” पुस्तक में लिखा है कि “प्राचीन शास्त्रग्रन्थ सहायता करने के बदले अधिक अवसरों पर मार्ग में रोड़ा ही अटकाते हैं”—मुझे भी ऐसा ही मालूम होता है—इसीलिये मोक्षता हूँ इनको लेकर मायापन्थी नहीं करूंगा। श्रीअरविन्द की पुस्तकें अच्छी तरह से पढ़ रहा हूँ—वे और क्या चीजें पढ़ने की सलाह देते हैं, लिखियेगा। इतिहास, साहित्य, राजनीति, दर्शन, अर्थशास्त्र—इन सभी विषयों में मुझे दिलचस्पी है।

जेल में आने के बाद से शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। शरीर की ओर इतना ध्यान देने की सुविधा जीवन में शायद और कभी नहीं मिली थी—यहां आकर इसी बीच साढ़े तीन सेर वजन बढ़ गया है। कई साल सेने खूब परिश्रम किया है, इस कारण

योग-दीक्षा

विश्राम से खूब आराम मिल रहा है। हम लोगों के जेल आने से देश का कार्य जितना हुआ है, बाहर रहने से हम लोग उतना कभी नहीं कर सकने थे। अगज्जननी जो कुछ करती है उससे भला ही होता है, यह विश्वास दिन प्रतिदिन दृढ़ होता जा रहा है।

आप मेरा नमस्कार स्वीकार कीजिये। श्रीअरविन्द को मेरा भक्तिपूर्ण प्रणाम कहियेगा।

बिनीत

अनिलचरण राय

पांडित्येरी

२५-१-२५

प्रिय महोदय,

“योगिक साधन” पुस्तक में वर्णित जिस ज्ञान और संकल्प (Will) के सम्बन्ध में आपने पूछा है, ध्यान रखना चाहिये कि, वह मानसिक ज्ञान और मानसिक संकल्प नहीं है। ज्ञान दो तरह का हो सकता है। एक तो बुद्धिषास्त्र ज्ञान जो विचार-वितर्क करके पाया जाता है, किन्तु यह ज्ञान न तो पूर्ण है न निश्चिन्त ही। और एक प्रकार का ज्ञान है जिसको आध्यात्मिक ज्ञान कहते हैं—वह मस्तिष्कप्रसूत नहीं होता, उसका अवस्थान उच्चतर क्षेत्र में है। मन के ऊपर जो अति-मानसिक या आध्यात्मिक ज्ञान है, साधक का लक्ष्य इसीको पाना, इसमें अर्चिष्ठित होना है। इसके लिये आवश्यकता है कि मन की वृत्तियों को, विचार-वितर्क इत्यादि को शान्त किया जाय। मन की क्रिया जितनी शान्त और स्थिर होगी, ऊपर से आध्यात्मिक ज्ञान की ज्योति भी उतनी ही उतरेगी, मन के क्षेत्र को आलोकित करेगी, मन की साधारण क्रिया के बदले धीरे धीरे उसी उच्चतर ज्ञान की क्रिया प्रस्फुटित होगी। ज्ञान के सम्बन्ध में जो बात है, Will या शक्ति के सम्बन्ध में भी वही बात है। मनुष्य में साधारणतः मानसिक इच्छा-शक्ति रहती है, मानसिक संकल्प का जोर रहता है। किन्तु विचार और बुद्धि से उत्पन्न ज्ञान की भांति मन से पैदा हुई यह इच्छाशक्ति भी

योग-दीक्षा

गुण्ड, असंपूर्ण और एक नीचे दरजे की शक्ति है। असली इच्छाशक्ति अर्थात् आध्यात्मिक इच्छाशक्ति इससे उच्चतर, गभीरतर शक्ति है, उसको तपःशक्ति कहा जा सकता है। विचार-वितर्क की क्रिया को शान्त करके जैसे आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वैसे ही मानसिक संकल्प (Mental Will) के जोर को शान्त करके आध्यात्मिक शक्ति (Spiritual Will) को प्राप्त किया जाता है। किन्तु प्रथम अवस्था में साधक इस उच्चतर सकल्प-शक्ति (Will) को जान नहीं सकता या ग्रहण नहीं कर सकता, इसलिए मानसिक सकल्पशक्ति का ही आश्रय लेना होता है। मानसिक संकल्प के अन्दर उस उच्चतर सकल्प की जो छाया या प्रतिरूप पड़ता है गुरु में उसीके ऊपर भरोसा करके चलना होता है, क्रमशः मन की क्रिया जितनी शान्त और शुद्ध होती जायगी मानसिक संकल्प भी उतना ही शान्त और शुद्ध होते होते आध्यात्मिक संकल्प में परिणत होता जायगा। मन में अतिमानस का प्रतिनिधिरूप जो सकल्प (Will) है "योगिक साधन" पुस्तक में उसी संकल्प के ऊपर जोर दिया गया है। विगुण्ड आध्यात्मिक शक्ति आध्यात्मिक ज्ञान का ही एक पहलू है।

किन्तु असल बात तो यह है कि इस तरह आलोचना करके इन सब चीजों की सम्यक् धारणा नहीं हो सकती। आध्यात्मिक वस्तु अनुभूति की, उपलब्धि की चीज है। मन तथा बुद्धि के निकट वह अस्पष्ट रह जाती है; साधक जितना अग्रसर होगा, जितना अन्तर्मुख होता जायगा, ये सब चीजें भी उतनी ही परिष्कृत होती जायंगी।

योग-दीक्षा

श्रीअरविन्द का योग कठिन है एवं सबके लिये उपयुक्त नहीं है और प्रचलित योगपथों से अलग है।

यह बात आपको साफ तौर से जान लेनी चाहिये कि यदि आप फिर अपने पूर्व कर्म-जीवन का अनुमरण करना चाहते हैं तो उसमें श्रीअरविन्द का योग विशेष सहायक नहीं होगा, वरन् बाधक ही हो सकता है। आपने अबतक जिस साधनपथ पर चलने की चेष्टा की है वह एक प्रकार से गीता का कर्मयोग है। ऐसी भी योगसाधना है जो साधक को कर्मक्षेत्र से नहीं हटाती, केवल यही नहीं, बल्कि साधन-लब्ध आध्यात्मिक शक्ति पीछे से कर्मजीवन को धारण किये रखती है, सुन्दर रूप में परिचालित करती है। किन्तु श्रीअरविन्द का योग इस प्रकार का कोई भरोसा आपको नहीं दे सकता, वरन् इसमें विपरीत पक्ष में ही आपको परिचालित कर सकता है। श्रीअरविन्द का योग विशेष रूप में आन्तरिक जीवनक्षेत्र का योग है। इस योग के लिये समस्त बाहरी कर्म का परित्याग करने के लिये भी आपको तैयार रहना चाहिये।

इसलिये इस समय जरूरत है कि आप अपने अन्तर का विशेष रूप से अनुसंधान करके देखें। भीतर में अनिवार्य प्रेरणा पाये बिना श्रीअरविन्द किसीको भी इस योग का अनुमरण करने का नहीं कहते। उनके योगमार्ग को ग्रहण करने से पहले आप सभी ओर विचार-पूर्वक देखें, अपने अन्तर की गति, अपने जीवपुरुष के इंगित को समझने की चेष्टा करें। केवल कौतूहलवश या मन की झोक में आकर

योग-दीक्षा

या बाहरी अवस्था के ऊपर भरोसा करके कुछ स्थिर करना ठीक नहीं होगा। आपकी आन्तरतम सत्ता में जो सत्य इच्छा है यदि आप वहाँसे निर्देश पायें तभी आपका श्रीअरविन्द के योग का अनुसरण करना साध्य होगा। नहीं तो आपका कर्म-जीवन तो नष्ट होगा ही, योगजीवन भी नहीं बनेगा। आपने श्रीरामकृष्ण की बात का उल्लेख किया है। किन्तु श्रीरामकृष्ण की बात नहीं, श्रीअरविन्द की भी बात नहीं—सबसे पहले आपको सुनना होगा अपनी अन्तरात्मा की बात को, दूसरेका निर्देश नहीं। पहले अपने अन्तर का निर्देश पाना चाहिये—अपने प्राण की पुकार जिस पथ के लिये हो, दूसरेका निर्देश उसी पथ के लिये मफल होगा।

आप अबतक राजनीतिक कार्य करने आये हैं। श्रीअरविन्द का योग और राजनीतिक कार्य एक साथ नहीं चल सकते, इस कारण कि इस समय देश में जो राजनीतिक कार्य चल रहा है वह राजसिक कार्य है। इसलिए जो लोग पहले राजनीतिक कार्य करने थे, उन सभी लोगों को योग लेने पर राजनीतिक कार्य छोड़ना पड़ा है। किन्तु सभी लोग राजनीतिक कार्य को केवल इच्छा करने में ही नहीं छोड़ सकते हैं और जोर जबरदस्ती से छोड़ना भी उन लोगों के लिये उचित नहीं है। इसी कारण जिनका कर्मी का स्वभाव है, जिनमें काम की प्रेरणा मत्प्राप्त और बलवत्तर है, श्रीअरविन्द उन लोगों को कर्मक्षेत्र में हटाना पसंद नहीं करते, वे प्रत्येक मनुष्य को यह उपदेश देते हैं कि वह अपने स्वभाव को समझकर स्वधर्म के पथ पर चले।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि देश के संबन्ध में श्रीअरविन्द एकदम उदासीन हैं। बहुतों की यह धारणा है कि श्रीअरविन्द आजकल

योग-दीक्षा

यह नहीं देखते कि देश मर रहा है या जी रहा है, वे योगी, साधु हैं किन्तु देश के लिये तो वे लो गये हैं (lost to the country)। किन्तु बात ठीक ऐसी नहीं है। श्रीअरविन्द की व्यक्तिगत योगसाधना में देशसेवा का भी स्थान है। किन्तु देशसेवा वे अपने ढंग से करते हैं। उस देशसेवा का अर्थ है अन्तर की कल्याणच्छा, तपःशक्ति का विकिरण। अन्तर की शक्ति का प्रयोग करके श्रीअरविन्द पथासाध्य देशसेवा कर रहे हैं। उनका कार्य स्थूल में नहीं है, सूक्ष्म में है।

फलतः श्रीअरविन्द का योग मायावाद पर प्रतिष्ठित नहीं है, उनका योग जीवन को अस्वीकार नहीं करता है, यह उपदेश नहीं देता कि पृथ्वी में अलग हो जाना ही परम पुरुषार्थ है। श्रीअरविन्द जीवन-लीला को चाहते हैं, किन्तु वे उस जीवनलीला को चाहते हैं जो परम सत्य में प्रतिष्ठित है, जो परम सत्य का प्रकाश है। देश के संबन्ध में भी वही बात है। वे एक नूतन भारत को, भारत के सनातन सत्य पर प्रतिष्ठित भारत को चाहते हैं। किन्तु आजकल देशसेवकगण जिस भाव के साथ कार्य करते हैं उसका अधिक भाग यूरोपीय भाव होता है, यूरोपीय ढंग का राजनीतिक कार्य होता है। श्रीअरविन्द यह नहीं चाहते कि भारतवर्ष यूरोप का द्वितीय संस्करण बन जाय। किन्तु श्रीअरविन्द के इस आदर्श को देश के लोग ग्रहण करेंगे या नहीं, इसको देश के लोग ही जानें।

इसलिये आजकल वे मशगूल हैं उस सत्य के आविष्कार में जिस-पर स्थित होने से जीवन दिव्य जीवन की प्रतिमूर्ति बनता है, जिसको ग्रहण करने से देश भी एक नूतन जन्म पा सकता है। जिस वस्तु

योग-बीजा

के आधार पर नूतन सृष्टि होगी, श्रीअरविन्द ने सारा ध्यान उसी वस्तु पर दिया है—सत्य को पा लेने पर उसकी अभिव्यक्ति अवश्यभावी है। पहले सत्य की साधना चाहिये। इसीलिये श्रीअरविन्द को कर्मक्षेत्र में अलग होना पड़ा है, वे एकनिष्ठ होकर कर्म के उद्गम की खोज कर रहे हैं और पहले उसको अन्तर में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। इसलिये सर्वसाधारण का यह कहना कि वे कार्यक्षेत्र में बाहर हैं स्वाभाविक है। साधारण लोग कार्य का अर्थ स्थूल कार्य समझते हैं—किन्तु सूक्ष्म जगत् के कार्य को कितने आदमी समझ सकते हैं? परन्तु सूक्ष्म जगत् का कार्य ही प्रधान है, वही स्थूल कार्य की बुनियाद है।

खैर, ये सब जाने आपको इसलिये कही गयी ताकि आप श्रीअरविन्द-साधना के साधारण दुःख और लक्ष्य को समझ पायें। किन्तु श्रीअरविन्द की योगसाधना की ग्रहण करने या न करने के संबन्ध में आप विवेचना करेंगे। श्रीअरविन्द के पथ पर चलने के लिये दो बीजों की जरूरत है। एक बीज है इस पथ पर चलने के लिये अन्तरात्मा की पुकार और दूसरी बीज है सामर्थ्य। आपका सामर्थ्य किस प्रकार का है यह श्रीअरविन्द नहीं जानते हैं। आपको उन्होंने देखा नहीं है, इसलिये सामर्थ्य के संबन्ध में विशेष कुछ नहीं कह सकते। किन्तु पत्रव्यवहार में जितना ज्ञान पाये हैं उसमें उनका यह विश्वास है कि सामर्थ्यसमूह के कारण ही आपकी साधना इस समय चल रही है। इसके पहले जितनी और जिस प्रकार से साधना आप करने थे उसका भी उद्देश्य था अपने आपको उपयुक्त बनाना, तैयार करना।

योग-दीक्षा

किन्तु सबसे पहले श्रीअरविन्द यह जानना चाहते हैं कि योग-साधना के पथ पर आप चलना ही क्यों चाहते हैं ? कौन प्रेरणा आपको इस पथ की ओर डेल रही है ? योगसाधना से आप क्या चाहते हैं, क्या लक्ष्य है, क्या उद्देश्य है ? What is the compulsion behind ? Why does he seek Yoga ?—श्रीअरविन्द के सीक यही शब्द हैं । लक्ष्य स्थिर नहीं होने में उपाय भी स्थिर नहीं होता । त्रिम प्रकार की प्रेरणा होगी, उसीके अनुसार पथ-निर्वाचन करना होगा । आपके भीतर की गति त्रिम ओर की होगी, उसको मालूम करके उसी ओर चलने के लिये नहर काटनी होगी । अवस्था के अनुसार व्यवस्था डालनी चाहिये । इर्ष्यानिधे व्यवस्था देने से पहले श्रीअरविन्द आपकी भीतरी गता की सत्य अवस्था जानना चाहते हैं ।

विनीत

नलिनीकान्त गुप्त

पांडिचेरी

५-३-१९२५

प्रिय महोदय,

राजनैतिक कर्म—चाहे किसी भी प्रकार का हो—और श्रीअरविन्द का योग एक साथ नहीं चल सकते।आप यदि श्रीअरविन्द के योग का संपूर्ण भाव से अनुसरण करना चाहते हैं तब आपको अपने पूर्व कर्म और कर्मक्षेत्र का परित्याग करना होगा।

आप कर्म का त्याग करना नहीं चाहते, आप गीता के कर्मयोग की साधना करना चाहते हैं। इसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु एक बात आपको अवश्य याद रखनी होगी कि गीता का कर्म-योग और श्रीअरविन्द का योग एक ही चीज नहीं है। आपने ठीक ही कहा है कि श्रीअरविन्द के योग का उद्देश्य है दिव्य जीवन की प्राप्ति। किन्तु वह गीता का ज्ञानभक्तियुक्त कर्म नहीं है अप्रत्या ज्ञान, भक्ति और कर्म का सामंजस्य भी नहीं है। श्रीअरविन्द का योग यह चाहता है कि मनुष्य साधारण जीवन में, यहाँ तक कि साधारण आध्यात्मिक जीवन में भी ऊपर उठकर ऊर्ध्व के सत्यलोक की प्राप्ति करे—जिसकी श्रीअरविन्द विज्ञान या Supermind कहते हैं—और उस लोक की सत्ता और शक्ति के द्वारा वह अपने समस्त आधार और जीवन को परिवर्तित और रूपान्तरित करे। इसके विपरीत गीता का योग है

योग-बीजा

भीतर में आध्यात्मिक चेतना में प्रतिष्ठित होकर निष्कामभाव से (अर्थात् वासनाशून्य, आसक्तिशून्य होकर) कर्म करते जाना। गीता का योग श्रीअरविन्द का योग नहीं है, किन्तु गीता का योग साधक को श्रीअरविन्द के योग के लिये तैयार कर सकता है।

आप जब गीता के पथ का ही अनुसरण करना चाहते हैं तब मालूम होना है आपके लिये अभी उमीकी आवश्यकता है। किन्तु इस साधना के लिये श्रीअरविन्द आपको केवल मलाह दे सकते हैं, इससे अधिक कुछ सहायता नहीं कर सकते। सब कुछ निर्भर करेगा आपकी अपनी सामर्थ्य के ऊपर और भीतर के आध्यात्मिक उद्बोधन के ऊपर। कारण, हम विषय में शब्दों का निजी मूल्य बहुत अधिक नहीं है। शब्द केवल इशारा बना सकते हैं, उस इशारे को आप कितना ग्रहण कर सकते हैं, कितना कार्यतः अनुसरण कर सकते हैं, इसकी माप है आपका अपना अन्तर और उमकी जाग्रत जाकाभा।

अब आपके प्रश्न के मबन्ध में। मन को शान्त करने के लिये गीता ने अभ्यास और वैराग्य ये दो उपाय बतलाये हैं। अभ्यास का अर्थ है भीतर में जो आध्यात्मिक अनुभूति हो उसपर एकाग्रता। मन स्वभावतः चंचल और बहिर्मुख है। प्रमाद और विषाद उमके स्वभाव में हैं। इस दोषपूर्ण चंचलता में बीच-बीच में साधक की इच्छासक्ति के प्रभाव से अथवा भगवत्प्रसाद से जो शान्त स्वभाव, जो ऊर्ध्वलोक की चेतना कभी कभी प्रकट होती है, साधक को बार बार उसपर ध्यान देना चाहिये, उसीको एकदम पकड़कर चलना चाहिये। फलस्वरूप, क्रमशः भीतर की सम्पत्ति जितनी स्पष्ट और

बौद्ध-दीक्षा

तबल होती जायगी, मन की बाधा भी उतनी ही कमजोर होती जायगी। इस प्रकार से मन की अशान्त चंचल गति भीतर के आध्यात्मिक अनुभव की एकाग्र चाप से स्थिर हो जाती है। इसके बाद वैराग्य की बात आती है। मन के बाधक का कारण है विषय के ऊपर आसक्ति, वासना और संस्कार। मन जितना आसक्तिमय, जितना वासना-भूत, जितना संस्कार-बलित हो सकेगा, वह अपने आप उतना ही शान्त हो जायगा। इस प्रकार के “निःसंग” होने का ही नाम वैराग्य है।

कालीशक्ति के प्रति सर्वस्व अर्पण करना, प्रकृति के खेल को केवल पुरुषरूप से साक्षीवत् देखना—यह साधना का एक अंग है। दूसरा अंग है सजग इच्छाशक्ति का प्रयोग, यह भी पुरुष का ही धर्म है। कालीशक्ति या प्रकृति का मतलब तो सभी कुछ है—उसके अन्दर अविद्या और अज्ञान की क्रिया, मन का विक्षोभ, कामना का संस्कार सभी कुछ है। तथापि, जो कुछ हो रहा है उसको कालीशक्ति की लीला या प्रकाश कहकर साधक उसको आचार में होने की अनुमति नहीं दे सकता। समस्त साधना का उद्देश्य है शक्ति के निचले स्तर की क्रिया का वर्जन करना, उसे परिशुद्ध करना। इसके लिये इच्छाशक्ति की सहायता से क्रियाओं को चुनने और जांचने की आवश्यकता है। शक्ति की किस गति को, किस रूप को ग्रहण करना होगा और किसको परित्याग करना होगा, इस बात को बुद्धि के द्वारा स्थिर करना होगा और उसीके अनुसार इच्छाशक्ति का प्रयोग करना होगा। इस प्रकार से जब साधक का अन्तर शुद्ध और स्वच्छ हो जाता है, तब क्रमशः सहज-चेतना के प्रकाश में वह ऊपर और नीचे की शक्ति की पृथक्

योग-दीक्षा

पुष्प् बारा को अनायास समझ सकता है और तभी वह अकुंठित भाव से अपनेको ऊपर की शक्ति के प्रति समर्पण कर सकता है। शक्ति के प्रति समर्पण का अर्थ नीचे की शक्ति के प्रति समर्पण नहीं है; नीचे की शक्ति को निर्मम भाव से अस्वीकार करके चलना होगा। ऊपर की सहज ज्योति बितने दिनों तक साधक के पथप्रदर्शक के रूप में प्रकट नहीं होती, उतने दिनों तक साधक को नीचे की शक्ति के साथ-अपरा प्रकृति के साथ-गुद करने के लिये बुद्धि का, विवेक और मानसिक इच्छाशक्ति का आश्रय लेना होगा।

विनीत
नलिनीकान्त गुप्त



बहरमपुर जेल

२३-३-२५

मान्यवर महोदय,

यह सुन आप खुश होंगे कि आप लोगों के दोनों पत्र मुझे मिले हैं। पहला पत्र रोक लिये जाने पर मैंने गवर्नमेंट के पास आपत्तिमूचक दरखास्त भेजी थी। गवर्नमेंट ने पुनर्विचार करके वह पत्र मेरे पास भेज दिया और उसके बाद आप लोगों का दूसरा पत्र भी मुझे मिला। आशा करता हूँ कि भविष्य में आप लोगों के साथ मेरा जो योगसाधन-संबन्धी पत्रालाप चलेगा उसमें कोई बाधा नहीं पड़ेगी।

यह बात कि श्रीअरविन्द का योग और गीता का कर्मयोग एक ही चीज नहीं है मैंने कुछ कुछ पहले ही समझ ली थी—किन्तु कहने की जरूरत नहीं कि श्रीअरविन्द के योग का मूल्बा स्वल्प न जानने के कारण दोनोंका भेद ठीक तरह से नहीं समझ सका हूँ। गीता के कर्मयोग का मर्म जहातक समझ पाया हूँ वह प्रधानतः श्रीअरविन्द के लेखों और पत्रों की सहायता से हुआ है। गीता का कर्मयोग मुझे श्री-अरविन्द के योग के लिये तैयार कर रहा है—इसी धारणा और विश्वास से ही मैं इतने दिनों से इस पथ पर चलने की चेष्टा कर रहा हूँ। शक्ति के प्रति आत्म-समर्पण की बात गीता में स्पष्ट कहीं नहीं पायी—“योगिक साधन” में उसका परिचय पाकर उसके द्वारा विशेष आकृष्ट हुआ। कालीशक्ति के प्रति सर्वम्ब अर्पण करने से साधक को और मोचने की जरूरत नहीं होती—कालीशक्ति ही उसके दिव्य जीवन को

योग-शिक्षा

मदनी है, साधक को केवल साक्षीवत् देखते चलना होगा—इसी तत्त्व को मूलमंत्र के रूप में ग्रहण कर में अपने साधन-जीवन को चलाता है। यथामय श्रीअरविन्द के पत्र में Selective Will का (अर्थात् इच्छाशक्ति की सहायता से चुनने और जानने की शक्ति का) मर्म समझा-शक्ति के नीचे के स्तर की क्रिया का वर्जन करने में इच्छाशक्ति का प्रयोग करना है—फिलहाल मानसिक इच्छाशक्ति, बुद्धि, विवेक की सहायता से चलना है—विश्राम है काली-शक्ति यथा-समय उच्चतर शक्ति तथा उच्चतर ज्ञान को प्रस्फुटित करेगी। यहाँ तक तो गीता के कर्मयोग में कोई विरोध नहीं पाता—वरन् में देखना है कि यहाँ गीता-शिक्षा के निहितार्थों को प्रस्फुटित किया गया है। वासना, आत्मिक और अहंकार को छोड़कर कर्तव्य करना ही तो गीता का कर्मयोग है—“योगिक साधन” पुस्तक की भाषा में आधार को गूँथ करना होगा—वासना, कामना, संस्कार, आत्मिक ये आधार के दोष हैं, शक्ति के निचले स्तर की क्रियाएँ हैं—इच्छाशक्ति के इन दोषों को दूर करना होगा। कालीशक्ति ही यह सब कर देगी—हम लोगों को केवल भर्ता का लक्ष्य भाव रखना होगा—“कालीशक्ति की क्रिया को साक्षीभाव से देखो, आधार की सुरक्षा के रूप में उनकी मदद करो। आधार को तात्त्विक उदासीनता या राजसिक बिद्रोह के द्वारा बरबाद मत करो।” यह तो गीता के कर्मयोग में भिन्न नहीं है। श्रीअरविन्द के योग में इसके अतिरिक्त जो चीज है उसे मैं अभी तक नहीं समझ पाया हूँ।

मैं कर्मस्वभाव करना नहीं चाहता—इन शब्दों में मेरा मत ठीक ठीक प्रकट नहीं होता है। गीता ने बार बार कहा है कि निष्काम कर्म के,

योग-दीक्षा

द्वारा आधार का परिवर्तन हो सकता है, दिव्य जीवन की प्राप्ति हो सकती है—इसीलिये मैं कर्म को छोड़ना नहीं चाहता। किन्तु यदि मेरी समझ में यह बात आ जाय कि दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिये मुझे वर्तमान राजनीतिक दृग का कार्य छोड़ देना चाहिये तो फिर मैं ऐसा करने के लिये तैयार हूँ। मुझे ऐसा नहीं मालूम होता कि वर्तमान राजनीतिक दृग के कार्य में मुझे कोई विशेष आशक्ति है—देश के मंगल के लिये और अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये इस प्रकार से कर्म करने की आवश्यकता समझकर ही मैंने ऐसे कार्य को लिया है, इस प्रकार का कार्य मुझे बहुत अच्छा लगता है इसलिये नहीं। यदि समझ में आ जाय कि देश के वास्तविक मंगल के लिये या दिव्य जीवन की प्राप्ति की सुविधा के लिये कर्मक्षेत्र से हट जाना आवश्यक है तो मैं इसके लिये तैयार हूँ। मेरा दृढ़ विश्वास है कि देश और जगत् का मंगल भगवान् कर रहे हैं और करेंगे—उनके कार्य का निमित्त बन सकूँ, उनके हाथों का यत्न हो सकूँ, उनकी लीला का साक्षी बन सकूँ—इसी उद्देश्य से अपनेको गढ़ना मेरे सारे कर्म और मेरी सारी साधना का लक्ष्य है। आशा करता हूँ कि मैं आपको समझा सका हूँ कि भारत के सनातन सत्य पर प्रतिष्ठित जिस नूतन भारत के आदर्श को श्री-अरविन्द देश को देना चाहते हैं, मेरा प्राण उसीको चाहता है और जिस भाव के साथ साधना करने से इस नूतन भारत का निर्माण हो सकता है उसके लिये मैं तैयार हूँ।

किन्तु मेरी सामर्थ्य कितनी है इसका हिसाब कर लेना एकदम जरूरी है। मेरी सामर्थ्य कितनी है इस बात को मैं ठीक ठीक नहीं

योग-दीक्षा

समझ रहा हूँ। इसीलिये नये ढंग में साधना-जीवन आरम्भ करने का साहस नहीं होता है। गीता के कर्मयोग और शक्ति के प्रति आत्म-समर्पण को साधारण भाव में किसी कदर समझ पाया हूँ—पत्र के पूर्वभाग में यह बात लिख चुका हूँ और इसके अनुसार अपने अन्दर आध्यात्मिक उद्योधन का प्रयत्न करता हूँ। जबतक श्रीअरविन्द के साथ मेरा साधान् परिचय नहीं होता, जबतक वे प्रत्यक्ष भाव से मेरी सामर्थ्य का परिचय प्राप्त कर मेरे लिये पथनिर्देश नहीं करने, तबतक मैं गीता के कर्मयोग की ही साधना करूँगा और अवश्य ही इस प्रकार मैं श्रीअरविन्द के योग के लिये तैयार होऊँगा। इस बीच वे मेरे पत्र के द्वारा मेरी सामर्थ्य का जितना परिचय पायेंगे आशा करता हूँ कि उन्हींके अनुसार मुझे परिचालित करेंगे। उनका कथन मेरे लिये कथन मात्र नहीं है, वह मेरी बाहरी मन-बुद्धि के ऊपर भी किसी चीज को रणशं करता है—ऐसा मुझे मालूम होता है।

श्रीअरविन्द की गीता के अनुवाद के शेषांश को समाप्त कर रहा हूँ। यह अनुवाद मेरी दैनिक साधना का एक अंग हो गया है। इसके समाप्त हो जाने पर खाली खाली महसूस करूँगा। श्रीअरविन्द यदि और कोई कार्य दे तो अच्छा होगा। जेल में जितनी पुस्तकें लिखना चाहूँ लिख सकता हूँ। किन्तु यह नहीं कह सकता कि जेल से छूटने से पहले उन्हें प्रकाशित करने की अनुमति पाऊँगा या नहीं।

छार पुरुष और जीव में क्या फर्क है? गीता में कहा गया है कि परा प्रकृति ही जीव हुई है (गीता ७-५), ऐसी दशा में तीन पुरुष और दो प्रकृतियाँ किस तरह होनी हैं?

बोग-दीक्षा

माज इतना ही। आप लोगों का कुशल-संवाद जानना चाहता हूँ। आपको मेरा श्रद्धापूर्वक नमस्कार। श्रीअरविन्द से मेरा भक्तिपूर्ण प्रणाम कहिये। मैं खूब अच्छी तरह से हूँ। यहां पढ़ने लिखने की खूब सुविधा—बहरमपुर कालिज लाइब्रेरी से इच्छानुसार पुस्तकें मंगा सकता हूँ।

बिनीत

अनिलवरण राय



पांडिचेरी
पहली अप्रैल १९२५

प्रिय महोदय,

आपने लिखा है कि श्रीअरविन्द के योग और गीता के योग में कहीं अन्तर है, इसको आप नहीं समझ पाये हैं। आपने अबतक जितना देखा है उसमें आपने दोनोंके साम्य के ही पहलू को देखा है। हां, यह बात ठीक है कि श्रीअरविन्द के योग और गीता के योग में विरोध नहीं है। गीता ने जो कुछ कहा है वह श्रीअरविन्द के योग की नींव या प्रारंभ है, उसके साथ श्रीअरविन्द के योग का मेल है—किन्तु इसके अतिरिक्त श्रीअरविन्द का योग और भी बहुत कुछ है। साधारण रीति से इनके अन्तर को यों कहा जा सकता है कि गीता का लक्ष्य है मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति की उच्चतम अभिव्यक्ति—जो प्रकृति देह, प्राण और मन को लिये हुए है उसकी उच्चतम अभिव्यक्ति; देह, प्राण और मन को शुद्ध करके उनकी ही पूर्णतम सिद्धि, उनके ही धर्म में मनुष्य को प्रतिष्ठित करना। किन्तु श्रीअरविन्द देह, प्राण और मन के ऊपर एक अन्य तत्त्व के धर्म में मनुष्य को सिद्धि प्राप्त करने को कहते हैं। उस तत्त्व का नाम है अतिमानस या विज्ञान (Supermind)। इस अतिमानस के सत्य के अन्दर गीता के बहुत से सत्य स्थान पायेंगे, किन्तु एक नये अर्थ और नयी व्यंजना के साथ। सिद्धान्त के अन्दर बस्तुगत ऐक्य रहते हुए भी उसके अन्दर भावगत पार्थक्य है।

योग-दीक्षा

सौर, अभी इस संबन्ध में अधिक विचार करना अनावश्यक है। श्रीअरविन्द की राय है कि गीता के पद्य का अवलम्बन करके जो साधना आप इस समय कर रहे हैं उसीको करते जाइये। अपनी अनुभूति और उपलब्धि की बातें उन्हें लिखिये और जब कभी कोई समस्या उठे तो उसके बारे में भी जिज्ञासा प्रकट कीजिये। श्रीअरविन्द के योग की दीक्षा यदि आपके लिये आवश्यक होगी तो वह अपने आप होगी, उसके लिये आपको अपने वर्तमान साधनपथ से अन्यमनस्क होने की जरूरत नहीं।

इसके बाद आपका प्रश्न है—“क्षर पुरुष और जीव में क्या फर्क है ? गीता में कहा गया है कि परा प्रकृति ही जीव हुई है, ऐसी दशा में तीन पुरुष और दो प्रकृतियाँ कैसे हुईं ?” पहले पुरुष की बात कहना है। पुरुष भगवान् की अपनी सत्ता है—तीन स्तरों में या चेतना के क्षेत्रों में तीन प्रकार की सत्ता—(१) क्षर (२) अक्षर (३) उत्तम। क्षर पुरुष है वह पुरुष जो सदा परिवर्तनशील प्रकृति की लीला में बद्ध है, भोक्ता, भर्ता इत्यादि होकर अनित्य के आनन्द को ग्रहण करता है। अक्षर पुरुष है प्रकृति के ऊपर, प्रकृति से मुक्त वियुक्त पुरुष—वह अपने आपमें संपूर्णतः निमग्न है। क्षर पुरुष के साथ प्रकृति संयुक्त है। अक्षर पुरुष की कोई प्रकृति नहीं है। और पुरुषोत्तम वह पुरुष है जिसमें क्षर और अक्षर दोनों एक ही साथ स्थान पाते हैं, प्रकृति और प्रकृति का अभाव दोनों ही जिसके अंग है। किन्तु यह बात नहीं है कि क्षर पुरुष के सम्मुख जो प्रकृति है वह है अपरा प्रकृति और पुरुषोत्तम के सम्मुख जो प्रकृति है वह है परा प्रकृति। विश्वप्रकृति के अन्दर

योग-दीक्षा

पुरुषोत्तम का प्रकाश हर पुरुष को धारण करके होता है और बिम्ब-प्रकृति की धारा दो प्रकार की होती है—परा और अपरा। पुरुषोत्तम के अन्दर प्रकृति की लीला जब शान्त स्तब्ध हो जाती है, जब प्रकृति नाम की कोई चीज नहीं रह जाती, वही अक्षर पुरुष है। जीव बिल्कुल अलग चीज है—जीव है भगवान् का अंश, व्यष्टि के अन्दर, व्यक्ति के अन्दर भगवान् का विशेष रूप। जीव का स्वरूप भगवान् की परा प्रकृति में है, अपरा प्रकृति को लेकर जीव के अज्ञान की क्रिया होती है।

विनीत

नलिनीकान्त गुप्त



बहरमपुर जेल

८-५-२५

मान्यवर महोदय,

आपका पहली अप्रैल का पत्र लगभग एक मास पूर्व मिला।

श्रीअरविन्द के उपदेश के अनुसार यथामाध्य गीता के पथ की ही साधना कर रहा हूँ। अपनी अनुभूति की बातें श्रीअरविन्द को लिखने के लिये आपने कहा है। मुझे ऐसा अनुभव होता है कि स्वयं भगवान् ही जीव और जगत् बनकर लीला कर रहे हैं—साधारण रूप से यह धारणा दृढ़ हो रही है। इसके बाद अपने अन्तर की बात कहनी है—यह प्रायः अच्छी तरह से मालूम होता है कि मैं गुणत्रय की क्रिया में बद्ध होकर प्रकृति के निम्न स्तर में निवास कर रहा हूँ। यह स्पष्ट देख रहा हूँ कि मेरे संस्कार, मेरी आशा-आकांक्षा—दो शब्दों में मेरी निम्न प्रकृति—मेरे माय अपनी इच्छानुसार कार्य करती है। और निम्न प्रकृति की क्रिया को छोड़कर ऊपर उठने की आकांक्षा मानो दिन पर दिन बढ़ती जाती है। किन्तु ऊपर की वह अवस्था क्या है, इसके बारे में कोई स्पष्ट धारणा नहीं है। पर विश्वास है कि वह अवस्था सच्ची स्वाधीनता की अवस्था है, उस अवस्था की शक्ति, ज्ञान और आनन्द खूब उच्च है। इस उपलब्धि और विश्वास को खूब जोर से पकड़े हुए हूँ, बार बार मन को इसमें लगाने का प्रयत्न कर रहा हूँ और इस आशा में स्थिर हूँ कि बाकी जो कुछ जानने को है यथासमय जान सकूंगा, जो कुछ होने को है, हो सकूंगा। निम्न क्रिया के प्रति—इन्द्रियभोग,

योग-बीजा

यश, मान, प्रतिष्ठा के प्रति—मन का आकर्षण कम हो रहा है, ऐसा मालूम होता है। हाँ, यह बात है कि बहुत तेजी से अक्सर न होने के कारण बीच-बीच में मन बड़ा क्षुब्ध होता है—किन्तु थोड़ा बहुत जितना भी अक्सर हो पाया है उसमें दिन प्रतिदिन धारणा दृढ़ हो रही है कि ठीक रास्ते पर है। किन्तु—बुद्धि मुना है कि महापुरुष के सम्पर्क में आने में साधनपथ पर अक्सर होने में बड़ी सुविधा होती है—इर्मालिये श्रीअरविन्द के निकट आने की इच्छा बहुत होती है। जिनने दिन तक ईश्वरेच्छा से उनके निकट जाना नहीं होता है, तबतक पत्र के द्वारा दिये उनके उपदेश पर ही मेरा भरोसा है।

इस बार अपनी समस्या के बारे में कहता हूँ। "नित्य परिवर्तन-शील प्रकृति की लीला में जो 'पुरुष' बद्ध है उसीको क्षर पुरुष कहते हैं।" पुरुष जब प्रकृति के निम्न स्तर की क्रिया में बद्ध रहता है और जब वह स्वार्थीन रूप से उच्च लीला का आम्बादन करता है—इन दोनों अवस्थाओं में ही क्या वह क्षर पुरुष है? हम लोगों का जो बाह्य पुरुष (apparent self) है वह अपनेको क्षुद्र तथा दूसरोसे पृथक् समझता है, किन्तु हम लोग अगर उठने पर अपने वास्तविक स्वरूप (real self) को समझ सकते हैं—जो वैश्व (Universal) है, जिसको गीता-प्रबन्ध में अव्यक्त ब्रह्म कहा गया है—क्या इन दोनों-को ही क्षर पुरुष कहा जायगा? क्या ज्ञानबुद्धि को तथा निम्न पुरुष के मिथ्या रूप का त्याग करके उच्च पुरुष के प्रकृत स्वरूप की उपलब्धि करने को आत्मिक विकास (growth of the soul) समझना होगा? अव्यक्त ब्रह्म, प्रभु, विभु और जीव में क्या फर्क है?

योग-दीक्षा

गीता-प्रबन्ध में लिखा है कि बिषय के स्पर्श से चित्त में कोई तरंग नहीं उठेगी, प्राण में किसी प्रकार की चंचलता नहीं होगी—क्या यह मनोविज्ञान और शारीरविज्ञान के अनुसार असंभव नहीं है? गीता के योग में इस प्रक्रिया का वास्तविक तात्पर्य क्या है?

समस्त कर्म ईश्वर के प्रति समर्पण करना—इसका ठीक ठीक क्या अर्थ है?

बहुतसे लोग कहते हैं कि भगवान् प्रभु है और हम दास हैं—इस भाव से कर्म करने से वह कर्म ईश्वर के प्रति समर्पित होता है। फला-फल उनके हाथों में छोड़कर कर्तव्यबोध से कर्म करते जाने को ही ईश्वरार्पण कहा जा सकता है। किन्तु, 'मे तो वस्तुतः कोई कर्म करता नहीं हूँ—भगवान् की इच्छाशक्ति के द्वारा ही समस्त कर्म हो रहा है', अन्तर में इस भाव को रखकर जो कोई कर्म किया जाता है वह ईश्वर के प्रति समर्पित होता है—यह क्या सच्चा समर्पण नहीं है? अथवा क्या ये सभी समर्पण के भिन्न भिन्न स्तर हैं? इस बात को जरा साफ कर देने में अच्छा होगा।

आप अपने यहाँके सबका कुशलसमाचार लिखियेगा। मैं अच्छी तरह से हूँ। आप सबको मेरा नमस्कार। श्रीगुरुदेव को मेरा अक्षिपूज्य प्रणाम कहियेगा। इति।

निवेदक

अनिलवरण राय

पांडित्येरी

२४ मई, १९२५

जीव और जगत् सभी कुछ भगवान् की लीला है, एक ही शक्ति सर्वत्र काम कर रही है, हम स्वयं जो कर्म कर रहे हैं वह भी भागवत शक्ति के द्वारा प्रेरित हो रहा है—यही अनुभव साधना की मूल प्रतिष्ठा है। यह बुनियाद आपकी दृढ़ हो रही है, यह आशाजनक बात है। इसके बाद आता है गुणत्रय-विभाग का अनुभव—इस द्वितीय स्तर में भी आपने कुछ कुछ अनुभव करना शुरू किया है। एक ही शक्ति सर्वत्र क्रिया कर रही है, यह देखकरके अनुभव करके फिर देखना होगा, अनुभव करना होगा कि गुणभेद से वह किम प्रकार भिन्न-भिन्न रूप धारण कर रही है। प्रकृति की लीला में कौनसी क्रिया सत्त्वगुण की, कौनसी रजोगुण की और कौनसी तमोगुण की अभिव्यक्ति है, इसको पृथक् पृथक् समझना होगा। इसके बाद नीचे की प्रकृति को छोड़कर ऊपर उठने की बात आती है। नीचे की प्रकृति को अतिव्रमण करने के लिये प्रथम आवश्यकता है प्रकृति की क्रिया से अपनेको पृथक् रखना। अपने भीतर सर्वत्र सब अवस्थाओं में एक शान्त, अचल, उदासीन पुरुष का अनुभव करना होगा, ऐसे पुरुष का जो प्रकृति की तरंग में डूब नहीं जाता, बल्कि प्रकृति के ऊपर या पीछे रहकर जो उसकी क्रिया को बिचलित भाव से देख रहा है। अपनेको मानो दो लण्डों में विभाजित करना होगा—एक ओर प्रकृति की बहुल लीला, दूसरी ओर साक्षी पुरुष।

दोम-दीक्षा

यह साक्षी पुरुष जितना स्पष्ट और प्रस्फुटित होगा, उतना ही मालूम होगा कि सत्ता, चेतना निम्न प्रकृति के ऊपर उठी जा रही है। साक्षी-भाव का अनुभव दृढ़ होने पर क्रमशः अनुमत्ता तथा भर्ता-भाव की भी आपन्न करना होगा। ऊपर की प्रकृति के स्वरूप का ज्ञान और भी बाद की बात है। यह स्वाभाविक है कि निम्न प्रकृति के अन्दर रहकर ऊपर की प्रकृति का ज्ञान नहीं होता और न हो सकता है। कारण, दोनोंके धर्म-कर्म अत्यन्त विभिन्न और बेमेल हैं। किन्तु ऊपर की प्रकृति और नीचे की प्रकृति इतनी विभिन्न और बेमेल होने हुए भी ऐसी बात नहीं है कि उनके बीच कोई संबंध या संयोग नहीं है। फल-स्वरूप, ऊपर की प्रकृति नीचे की प्रकृति का निषेध नहीं है, वरन् उसकी परिपूर्णता या रूपान्तर है। ऊपर की प्रकृति का विकृत रूप है नीचे की प्रकृति, नीचे की प्रकृति का सत्य रूप या स्वरूप है ऊपर की प्रकृति। नीचे की प्रकृति में जो तमोगुण अर्थात् जड़ता है, वही ऊपर की प्रकृति में है दाम अर्थात् स्थिर स्तब्धता, अबलप्रतिष्ठ शान्ति। नीचे की प्रकृति में जो रजोगुण है ऊपर की प्रकृति में वही तपः होता है। और नीचे की प्रकृति में जो सत्त्व है ऊपर की प्रकृति में उसका स्वरूप है ज्योतिः। सत्त्व का अर्थ प्रकाश या आलोक होने पर भी वह सीमाबद्ध होता है, वह अज्ञान का ही आलोक है—किन्तु ऊपर की प्रकृति में रूपान्तरित होने पर वह ज्ञानमय हो जाता है। इसके अतिरिक्त नीचे की प्रकृति में सत्त्व, रज और तम में परस्पर द्वन्द्व, संघर्ष, असामंजस्य रहता है, किन्तु ऊपर की प्रकृति के स्वरूप में रूपान्तरित होने पर उनके अन्दर स्थापित होता है निर्विह सामंजस्य, ऐक्य, सम्मिलन।

बोन-बीजा

आपकी दूसरी समस्या पुरुषत्रय के संबन्ध में है। प्रकृति की आद में स्थित, उसकी बहुत लीला के साक्षी-रूप में स्थित जो पुरुष है उसीको अक्षर पुरुष कहने है। ऐसी बात नहीं है कि इस कारण से अक्षर पुरुष बढ होगा ही। कार्यतः यह देखा जाता है कि वह प्रकृति के जाल में आबद्ध रहता है, किन्तु वह प्रकृति में मुक्त अवस्था में भी रह सकता है। जीवन्मुक्त जीव में अक्षर पुरुष प्रकृति का रसग्राही होते हुए भी प्रकृति से मुक्त है। अक्षर पुरुष का अस्तित्व वहां है जहांपर प्रकृति नहीं है, जहांपर प्रकृति की लीला एकदम शान्त हो गयी है, समाहित या लुप्त हो गयी है। अक्षर पुरुष का ही दूसरा नाम है निर्विकार ब्रह्म (The Immutable Brahman)। पुरुषोत्तम इन दोनोंके ऊपर है, इन दोनोंको लिये हुए है। पुरुषोत्तम की अन्तर में प्रतिष्ठा रूप से जो अचल ज्ञानि है, जो अनन्त ऐक्य, जो अविकल्प साम्य है वही अक्षर पुरुष है; और अभिव्यक्ति के लिये, लीला के लिये जब पुरुषोत्तम प्रकृति को ग्रहण कर नीचे आते हैं, बाहर चलते हैं, तब वह उनका प्रकृति में अक्षर रूप होता है। ये जो तीन पुरुष हैं वे एक ही सत्य के तीन अवस्थाओं में तीन रूप मात्र हैं। जीव में ये तीनों एक साथ रहते हैं। किन्तु जीव जबतक मानस सत्ता में आबद्ध है तबतक वह इनके पारस्परिक ऐक्य को समझ नहीं सकता। विचार-बुद्धि के द्वारा देखने में उनको अलग करके देखना होता है। मन के ऊपर उठ सकने पर उनके संबन्ध में ठीक ठीक चारणा हो सकती है। आपने जो वैश्व (Universal) की बात कही है वह दूसरी चीज है। वैश्व (Universal) का अर्थ है विश्वप्रकाश का मूल रूप, आद्या प्रकृति।

बोम-रीखा

आत्मिक विकास (growth of the soul) का अर्थ है—
(१) चेतना का विस्तार, ज्ञान को संकीर्ण सीमाबद्ध क्षेत्र से निकाल-
कर प्रसारित कर देना, (२) चेतना की ऊर्ध्वगति, निम्न स्तर
के ज्ञान से क्रमशः ऊपर उठ जाना, सत्य से सत्यतर स्तर में उठ
जाना। विकास (growth) का अर्थ यही प्रसार और ऊर्ध्वगमन
है—चेतना का प्रसार विशालता और उच्चता दोनों दिशाओं में।

“विषय के स्पर्श से चित्त में कोई तरंग नहीं उठेगी, प्राण में कोई
बाधत्व नहीं होगा।” आपने पूछा है कि यह शारीरविज्ञान और मनो-
विज्ञान की दृष्टि में संभव है या नहीं। खूब संभव है। मनोविज्ञान और
शारीरविज्ञान (Psychology and Physiology) मन और
प्राण के वर्तमान प्राकृत धर्म की व्याख्या करने हैं, उनकी प्रतिष्ठा मनुष्य
की बाह्य प्रकृति पर है—योगशक्ति मनुष्य की गभीरतर चेतना
और प्रकृति पर प्रतिष्ठित है। इससे पहले मैंने साक्षी पुरुष की बात
कही है। प्रकृति में अलग होकर साक्षी पुरुष की चेतना में अधिष्ठित
होने से, मनुष्य अटूट, अचल शान्ति, समता प्राप्त करता है। साक्षी
पुरुष का स्वभाव और स्वधर्म ही है अचल शान्ति, प्रगाढ़ प्रसन्नता।
उस अवस्था में प्रकृति का विक्षोभ—चित्त में तरंग, प्राण में बाधत्व—
साधक के साक्षी पुरुष को स्पर्श नहीं करता, साधक इस विक्षोभ को
अपनेमें अनुभव नहीं करता, उसको यह अनुभव होता है कि यह सब
विषयप्रकृति में, उसके बाहर घटित हो रहा है। पुरुष की यह संहत
छान्ति प्रकृति पर भी अपना प्रभाव विस्तारित करती है, उसके
चाप से चित्त और प्राण भी छान्त हो जाते हैं, विकार का कारण

योग-दीक्षा

सपस्थित होने पर भी वे पुरुष में संचामित शान्ति की बदौलत बरा भी विचलित नहीं होते, स्थिर और अविभक्त रहते हैं। यह शान्ति और भी नीचे उतर सकती है, आधार की स्नायविक और शारीरिक मत्ता (nervous and physical being) तक को अधिकृत कर सकती है। उस समय जड़ प्रकृति का सब जड़ स्पर्श हम देहगत शान्ति के सामने हार मानता है, देह के अन्दर भी किसी प्रकार की चञ्चलता या प्रतिक्रिया नहीं पैदा कर सकता। अवश्य ही यह मिथि बहुत प्रयास के बाद प्राप्त होती है, इसकी सहज ही आयत्न नहीं किया जा सकता है। किन्तु यह कोई एकदम असंभव वस्तु नहीं है।

आपने जो कई प्रकार के आत्मसमर्पण की बात कही है वे उसके भिन्न भिन्न स्तर ही हैं। पहले पहल समर्पण कर्मफल का होता है। इसीमें साधक को आरम्भ करना होता है। अपनी बुद्धि के द्वारा कर्तव्य स्थिर करके उसको सम्पन्न करना होता है, फल के प्रति अनासक्त होकर। मैं दास हूँ, भगवत्प्रीत्यर्थं कर्म कर रहा हूँ, मेरा कर्म उनकी सेवा है; कर्म का फल, जय वा पराजय, उनके हाथ में है—दासप्रभुभाव या इसी प्रकार का अन्य भाव इस प्रथम स्तर का है। इसके बाद के स्तर पर जब साधक उठता है तब उसको यह बोध भी नहीं रहता कि वह कर्ता है। तब केवल कर्मफल ही नहीं, कर्म भी भगवान् के द्वारा नियंत्रित होता है। भगवान् ही कर्ता है, यंत्री है, मैं उपाय हूँ, यज्ञ मात्र हूँ—यह भाव दृढ़प्रतिष्ठ होने पर साधक यह अनुभव करता है, यह देखता है कि उसका कर्म और उसका सारा जीवन भगवान् के यहाँसे आ रहा है, उसका कर्तव्य एक ऊपर की प्रेरणा से स्थिर हो रहा है।

योग-दीक्षा

मेरे अन्दर जो कुछ हो रहा है, उसमें मेरा कुछ भी हाथ नहीं है, सभी भगवान् की इच्छाशक्ति का विकास है—इस भाव की मिट्टि बहुत ही कठिन है। जीव के प्राकृत स्तर में इस ढंग का समर्पण ठीक सच्चा नहीं होता। क्योंकि उस समय हमारी अपनी वासना-कामना ही हमारे कर्म को नियंत्रित करती है; उस समय यदि हम कहें कि हम कुछ नहीं करते, सब भगवान् करने हैं—उसका अर्थ हुआ कि हम अपनी वासना-कामना को, अपने प्राकृत स्वभाव को ही भगवान् के आसन पर स्थापित करते हैं। हमारे कर्म की प्रेरणा जब वास्तव में हमारी निम्न प्रकृति से नहीं उठती, जब हम मचमुच देखते हैं कि कर्म हमारी उच्च प्रकृति से आ रहा है, तभी हमारे जीवन में भगवान् का कर्तृत्व सत्य और जाघत् बनता है। निम्न प्रकृति की और उच्च प्रकृति की प्रेरणा को पहिचानने का ज्ञान मायक के लिये पहली आवश्यकता है। नही तो सब कुछको भगवान् का कहकर गड़बड़झाला पैदा करना मायना के मार्ग में एक भयानक भूल है। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम प्रकृति को पुरुष से अलग रखें, पुरुष की प्रशान्त उदासीन दृष्टि से देखें कि प्रकृति में कहाँपर नीचे की घारा और कहाँपर ऊपर की घारा कार्य कर रही है; नीचे की प्रेरणा को दूर करने के लिये इच्छाशक्ति, तपःशक्ति की आवश्यकता है; धाम्ना ऊर्ध्व दृष्टि, अबचल प्रतीक्षा के भाव की आवश्यकता है ताकि ऊपर के सत्य की प्रेरणा नीचे उतर सके। ऊपर की शक्ति और सत्ता जब साधक पर पूर्ण अधिकार कर लेती है, तभी साधक का समर्पण पूर्ण होता है।

बिनीत

नलिनीकान्त गुप्त

बहरमपुर जल

८-६-२५

मान्यवर महोदय,

आपका २४ मई का पत्र ३० को मिला था। तभी उत्तर दे देता, किन्तु आज जो बात बतलाना चाहता हूँ वह मेरे लिये बहुत ही जरूरी है, इसीलिये मैंने एक सप्ताह देरी की है।

यथासंभव अपने अन्तर की जाब करके मैं इस सिद्धान्त पर पहुँचा हूँ कि मुझे श्रीअरविन्द के योग का ही अनुसरण करना होगा। किम प्रक्रिया के द्वारा मैं इस सिद्धान्त पर पहुँचा हूँ, इस बात को अभी ठीक मिल-सिलेबार लिखना संभव नहीं है। किन्तु मैंने अच्छी तरह से परीक्षा करके देखा है कि यह मानसिक शक्त या कौतूहल नहीं है। मन को दूसरी ओर ले जाने की कोशिश करने पर भी नहीं ले जा सका हूँ। अगर यह शक्त है तो अजीब तरह की शक्त है—इस शक्त पर गालिब आना मेरे बस की बात नहीं है। श्रीअरविन्द ने पूछा था कि तुम (अनिल-वरण) योग क्यों करना चाहते हो। मालूम होता है इस प्रश्न का ठीक उत्तर मैं नहीं दे सकता—किन्तु मैं जितना जितना ही अपने अतीत जीवन की पर्यालोचना करता हूँ उतना उतना स्पष्ट अनुभव करता हूँ कि मानो समस्त जीवन में ही मैं योग के लिये तैयार होना आया हूँ। मेरी पारि-पाक्षिक अवस्था विशेष सहायक न होते हुए भी, उच्च जीवन की ओर, आदर्श जीवन की ओर, मेरी बड़ी इच्छा थी। कम ही पूजा है (work is worship), परोपकार इत्यादि मेरे जीवन के पक्ष-

बोल-चीला

प्रदर्शक सिद्धान्त थे। किन्तु उच्च जीवन का, आदर्श जीवन का क्या तात्पर्य है, वह किस प्रकार से प्राप्त किया जाता है—इस संबन्ध में कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी। खूब कर्म करता था, अपने सुख-स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान नहीं देता था, समझता था कि इस प्रकार चलने से एक न एक दिन प्रकाश देख पाऊंगा। ऐसी बात नहीं है कि मैं भोग में पड़ा ही नहीं किन्तु कभी किसी बीज में डूब नहीं गया और हमेशा ही अन्दर एक प्रकार का अनामकृत भाव अनुभव करता था। तीन वर्ष हुए जब “योगिक साधन” पुस्तक पहले पहल पढ़ी तब उसमें मानो नया प्रकाश पाया—इनने दिनों जिस बीज को खोजता था मानो वह मिल गयी है ऐसा मालूम हुआ। “मनुष्यभाव से मुक्त होओ देवभाव की प्राप्ति के लिये”—इस बात ने मेरे ऊपर मन्त्र-शक्ति की भाँति किया की थी। कालीशक्ति के प्रति आत्मसमर्पण करने से वे ही सब ठीक कर देंगी—इस कथन से हृदय में जिस आशा का संचार हुआ था, जिस आनन्द को अनुभव किया था, उसका मैं शब्दों में प्रकाश नहीं कर सकता। तबसे “योगिक साधन” की शिक्षा ने ही—जैसा उसे मैंने अपने आप ग्रहण किया था—मेरे जीवन को परिचालित किया है। मैंने बहुत सी भूलें कीं, इस बात को अब समझ रहा हूँ—मालूम होता है वे भूलें मेरे लिये जरूरी थीं। कई वर्षों तक किस प्रकार आंधी की भाँति मैंने कर्म किया ! बहुत ही बहिर्मुख हो गया था, अन्तर्मुख होने के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया, शायद मामूली ही नहीं था—किन्तु, एक तरह का भरोसा था, विश्वास था कि मैं सब ठीक कर दूँगी। भीतर के कर्मी स्वभाव की प्रेरणा से कर्म की धारा में अपनेको डुबो

योग-दीक्षा

देता और समझता कि भगवान् की आज्ञा के अनुसार कर्म करता हूँ— मेरे संस्कार, आसक्ति और वासना मुझको नष्टाती, मैं समझता कि मेरे लिये जो ठीक है, मैं वही कार्य कर रही हूँ। यह अवस्था साधक के लिये कितनी विपश्जनक है, यह बात मैंने ठोकर खाकर सीखी है—किन्तु मेरा विश्वास है कि मैं के ऊपर मैंने जो भरोसा किया था वह बेकार नहीं गया। Essays on the Gita (गीता-प्रबन्ध) का पढ़ना अगला कदम रहा। मैंने समझा कि “योगिक साधन” में जिस बात को मूलमूत्र के रूप में देखा था गीता-प्रबन्ध में वही बात विस्तृत रूप से वर्णित हुई है। मेरे कर्मी स्वभाव को गीता की शिक्षा बहुत अच्छी लगती थी। प्रायः दस मास पहले जब बारीन्द्र बाबू ने लिखा था कि श्रीअरविन्द के योग को ग्रहण करने के लिये सिर का बोझ फेंककर निःसंग होना पड़ेगा, उस समय इस बात के मर्म की उपलब्धि नहीं कर सका था। जेल में आने पर भीतर की ओर देखने का जो सुयोग मैंने पाया वह मेरे लिये बहुत ही शिक्षाप्रद हुआ है—ठीक समय पर ही आपका पत्र पाया कि यदि मुझे श्रीअरविन्द का योग ग्रहण करना है तो कर्मक्षेत्र से अलग होना पड़ेगा। उसी समय श्रीअरविन्द के योग को ग्रहण करने का मुझे बड़ा आग्रह था—किन्तु शायद वह सक या कौतूहल हो इसलिये उस भाव को प्रश्रय नहीं दिया। किन्तु बाद में बहुत तरह से सोच-विचार करके देखा है कि मेरे लिये श्रीअरविन्द के योग का अनुसरण करने की आवश्यकता है।

मेरे लिये पूरबतन राजनीतिक जीवन का अनुसरण करना अब संभव नहीं है। यहाँपर इसका कारण लिख सकता हूँ। मैं उच्च जीवन

योग-दीक्षा

प्राप्त करना चाहता हूँ। मैंने सोचा था कि निष्कामभाव से देश का कार्य करने से मैं उच्च जीवन प्राप्त कर सकता हूँ। इसमें संदेह नहीं कि इतने दिन देश का कार्य करने से मेरी बहुत उन्नति हुई है—किन्तु इसके द्वारा और आगे नहीं बढ़ सकता, शायद नीचे की ही ओर चला जाऊँ। इतने दिनों तक भीतर दृष्टिपात नहीं किया किन्तु अब जितना ही भीतर की ओर देखता हूँ उतना ही उपलब्ध करता हूँ कि बाहर से यह मालूम होते हुए भी कि यज्ञार्थं कर्म करता हूँ यह मन के धोखे के सिद्धांत और कुछ नहीं है। भीतर ही भीतर मेरे संस्कार और वासनाएं मुझको परिवर्तित करती हैं और हमेशा इनके वश में चलने में मैं क्या उन्नति कर सकता हूँ! श्रीअरविन्द ने लिखा था कि साक्षीभाव को बढ़ करना होगा। साक्षीभाव को समझता तो हूँ किन्तु इसमें अपनेको दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित नहीं कर पाता हूँ। जब निरन्तर होकर अतीत की ओर ताकता हूँ तब अच्छी तरह से उपलब्ध करता हूँ कि मेरे अन्दर प्रकृति के तीन गुणों की त्रिया किस प्रकार चल रही है। किन्तु किसी कार्य में लगने पर साक्षीभाव कायम नहीं रहता, उक्त समय अपनेको दो खंडों में विभाजित नहीं कर सकता, ऐसा मालूम होने लगता है कि “मैं” करता हूँ। कार्य जितना ही राजसिक होता है अहंकार उतना ही प्रबल होता है। ऐसी अवस्था में अहंकार से छुटकारा पाने के लिये, साक्षीभाव प्राप्त करने के लिये, राजनीतिक कर्म के परित्याग के सिद्धांत और उपाय क्या है?

बैसे मैं अब पूर्ववत् राजनीतिक जीवन व्यतीत भी नहीं कर सकता। पारिपाक्षिक अवस्था ने मेरे संस्कार, आसक्ति और वासना

योग-दीक्षा

का अवलम्बन करके नाक में नकेल डालकर मुझे नचाया है, मैं महत् कर्म कर रहा हूँ इस भाव ने मेरे अहंकार की तृप्ति की है। इससे अब मुझको तृप्ति नहीं होती—आंखों पर पट्टी लगे हुए बेल की भांति चाबुक की ताड़ना से कोल्हू के चारों ओर घूमने में अब मुझे उत्साह नहीं है। मैं मुक्ति का पथ देख रहा हूँ—और तब भी इस कोल्हू में बंधा रहूंगा ! कोशिश करने पर भी अब यह बात मुझसे नहीं हो सकती। मेरे जैसा अन्ध जो स्वयं नहीं जानता कि भीतर में क्या हो रहा है दूसरेको कैसे मार्ग दिखावेगा ? जो अपनी शक्ति को संगठित नहीं कर सकना वह देश की शक्ति को कैसे संगठित करेगा ! इसी बीच में देशोद्धार के सब विचारों को मैंने छोड़ दिया है। जेल से छूटने पर ग्रामसंगठन का कार्य करूंगा, आदर्श गांव तैयार करूंगा और इसी आदर्श का सर्वत्र प्रचार करूंगा—इस प्रकार के कितने कार्यों की योजना बनायी थी और उसके अनुसार पढ़ने लिखने का भी आयोजन किया था—उन सब विचारों का मैंने त्याग कर दिया है। मन से सारी राजनीतिक चिंताएं एकदम झाड़झड़कर बाहर फेंक दी हैं। जेल के अन्दर लोग अक्सर कितने आग्रह के साथ पढ़ते हैं—मुझे अब अक्सर छूने और पढ़ने की इच्छा नहीं होती। श्रीअरविन्द ने जिस अभ्यास का उपदेश दिया है उसीको कर रहा हूँ—सत्य का जो कुछ आभास पाया है घुमाफिराकर उसीका चिन्तन करता हूँ, ध्यान करता हूँ। श्रीअरविन्द की पुस्तकों का पाठ करता हूँ। पढ़ने की अन्य पुस्तकों में केवल धर्मपुस्तकें हैं—उनको भी दार्शनिक अध्ययन के लिये नहीं बरन् अपनी अनुभूतियों को बृद्ध करने के लिये पढ़ता हूँ। उदाहरणार्थ रामकृष्णकीलाप्रसंग

योग-दीक्षा

इत्यादि। इस अवस्था में मैं क्या साधना करूँ, क्या पुस्तक पढ़ूँ, क्या कर्म करूँ?—श्रीवरविन्द इन बातों के संबन्ध में विशेष रूप से मुझे उपदेश दें। श्रीवरविन्द ने लिखा है—“एक शान्त ऊर्ध्वदृष्टि चाहिये, एक अचंचल प्रतीक्षा का भाव चाहिये”—किन्तु यह प्रतीक्षा किस प्रकार की होगी? मन को क्या एकदम खाली करना होगा या कोई ध्यान-धारणा करनी होगी? मन को खाली भी किस प्रकार किया जाय?

यह मैंने निश्चय किया है कि मैं राजनीतिक कर्म से हट जाऊँगा। मुझे कभी कभी डर लगता है कि कहीं तामसिकता तो मुझे नहीं बेर रही है। किन्तु भीतर तामसिकता का कोई लक्षण नहीं दीखता। सत्य के नूतन आभास को पाकर प्राणों में खूब मुख अनुभव कर रहा हूँ—ये सब तो तामसिकता या अवसाद या अज्ञान के लक्षण नहीं हैं! मेरे पूर्व कर्मों के फलस्वरूप भीतर जिस प्रकार विविध संस्कारों की मूर्ष्टि हुई है बाहर भी मैं बैसे ही बहुत से बंधनों में फँस गया हूँ। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सब बंधनों को काटकर कर्मक्षेत्र से अलग होना बहुत ही कठिन है। किन्तु भरोसा है कि जब मैंने योगजीवन के अनुसरण की प्रबल इच्छा दी है तब वे ही मेरे आन्तरिक और बाह्य सब बंधनों को काट देंगे। मेरे भीतर जो कुछ हो रहा है उसका कुछ परिचय मैंने ऊपर दिया है—इसके संबन्ध में श्रीवरविन्द के क्या विचार हैं मुझे लिखियेगा और उनका उपदेश बतलाइयेगा। उन्हींके ऊपर मैं पूरा निर्भर करना हूँ। मेरा दृढ़ विश्वास है कि उन्हींके द्वारा मैं मेरे योगजीवन को गढ़ सकूँगी।

मेरा सामर्थ्य कितना है, यह नापना मेरे लिये संभव नहीं। किन्तु आपने जो लिखा है “शायद आपका कर्मजीवन नष्ट हो जाय

योग-दीक्षा

और योगजीवन भी न बने" इसका मुझे कुछ मय नहीं। मैं नहीं समझ सकता कि सत्य को न पाकर कर्मजीवन से क्या लाभ हो सकता है। और यदि योगजीवन न भी बने तो इसमें शोक करने की क्या बात है? न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति—ऐसा मेरा विश्वास है। इस जन्म में सिद्ध न हो तो अगले जन्म में होगा।

आपकी दोनों पुस्तकें पाकर बहुत प्रसन्न हुआ। Essays on the Gita (गीता-प्रबन्ध) के अनुवाद के ३७ पृष्ठ बाकी हैं। जल्दी जल्दी करने से अबतक खतम हो गया होता—किन्तु यह अनुवाद-कार्य मानो मेरी साधना का एक अंग हो गया है इसलिये इसमें जल्द-बाजी नहीं कर रहा हूँ। मेरा इरादा है इसके बाद ईशोपनिषद् का अनुवाद करूँगा। अनुवाद करने में जंमे भीतर प्रवेश करना पड़ता है केवल पढ़ने में बंसे नहीं होता इसलिये अनुवादकार्य मुझे बहुत अच्छा लगता है। किन्तु ईशोपनिषद् अभी हाल ही में मिली है। अभी पढ़ना आरंभ नहीं किया। इस संबंध में श्रीअरविन्द के विचार को जतलाइयेगा। मैं अब क्या करूँ, किस प्रकार से बलू इस संबंध में बे विशेष रूप से उपदेश दें। अन्यान्य प्रश्नों की चर्चा आज नहीं करूँगा। बहुत सी समस्याएं मन में उठती हैं और फिर अपने आप उनका ऐसा समाधान हो जाता है कि उससे संतुष्ट हो जाता हूँ। इस कारण आप लोगों को कष्ट नहीं देता। मैं अच्छी तरह से हूँ। आप अपने यहांके सब लोगों का शारीरिक कुशल-संवाद दें।

विनीत

अनिलवरण राय

बहरमपुर जेल

१४-७-२५

मान्यवर महोदय,

एक मास से अधिक हुआ आपको एक पत्र लिखा था। आज तक उसका उत्तर नहीं मिला। आपको क्या वह पत्र मिला नहीं? मैंने विशेष विवेचन करके देखा है कि मुझको श्रीअरविन्द का योग ही ग्रहण करना होगा और इस बात को मैंने अपने पहले पत्र में भी लिखा है। श्रीअरविन्द की योगसाधना के साधारण रूप और लक्ष्य को मैंने आपके पत्र से जितना समझा है उससे इस विषय में अब कुछ भी दुविधा या संशय नहीं है। आपने लिखा है कि श्रीअरविन्द के पत्र पर चलने के लिये दो चीजों की आवश्यकता है—पहली, अन्तरात्मा की पुकार, दूसरी, सामर्थ्य। पहली को तो मैं खूब अनुभव कर रहा हूँ। साधारण जीवन में, प्रकृति की निम्न क्रिया में अब मुझे दिलचस्पी नहीं है, उत्साह नहीं है—मेरी अन्तरात्मा अब उसमें तृप्त रहना नहीं चाहती। दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिये मुझे योगसाधना करनी होगी और इस मार्ग में श्रीअरविन्द ही मेरे आश्रय हैं। दूसरी चीज, सामर्थ्य के संबन्ध में अवश्य ही मैं स्वयं कुछ ठीक नहीं कह सकता। श्रीअरविन्द ने कहा है कि उनका योग बहुत कठिन है किन्तु कठिनाई किम बात में है इस संबन्ध में उन्होंने कुछ नहीं कहा। श्रीअरविन्द का योग विशेष रूप से अन्तर का योग है। मैं खूब ही बहिर्मुख था, अब मैंने अन्तर्मुख होकर चलना प्रारंभ किया है। योगजीवन की, अध्यात्मजीवन की,

योग-बीजा

जो सब बातें व्यर्थ मालूम होती थी वे सब क्रमशः साफ हो रही हैं। बाह्य जगत् के साथ संबन्ध को पूर्वपिछया बहुत कुछ निश्चित कर सका हूँ और अन्तर्मूल होने के आनन्द को कुछ कुछ अनुभव कर रहा हूँ। साक्षी के ज्ञान-भाव का आस्वाद पाना आरंभ कर दिया है और इसके फलस्वरूप मेरा भीतर-बाहर क्रमशः ज्ञान हो रहा है, इस बात को ब्रह्म देख रहा हूँ। इसमें संदेह नहीं कि यह सब श्रीअरविन्द का अनुग्रह है, वे अब मुझे योग के पथ पर प्रतिष्ठित करें यही मेरी आन्तरिक प्रार्थना है। मेरा सामर्थ्य कितना हुआ है यह श्रीअरविन्द को ही समझना होगा और यदि अभी तक योग्य नहीं हुआ हूँ तो फिर किस मार्ग से सामर्थ्य-संग्रह कर सकता हूँ यह भी श्रीअरविन्द को ही दिखाना देना होगा।

आपने लिखा है कि श्रीअरविन्द का योग और राजनीतिक कार्य एक साथ नहीं चल सकते। मेरे राजनीतिक कार्य का त्याग करने के लिये मन ही मन तैयार हो गया हूँ। मैं आशा करता हूँ कि अपने कंधे पर जो सब बोझा लाद रखा है उसमें यथासंभव शीघ्र ही छुटकारा पाऊंगा। श्रीअरविन्द के योग का अनुसरण करने के लिये किस प्रकार के सामर्थ्य की आवश्यकता है, इसका कुछ और आभास पाने पर मैं अपने अन्तर में परीक्षा करके देखने की चेष्टा करूंगा। फिलहाल मैं किस प्रकार से चल रहा हूँ उसका आभास आपको देता हूँ। इस संबन्ध में श्रीअरविन्द अगर कुछ उपदेश दें तो मुझे बतलाइयेगा। शारीरिक आवश्यक कार्य के अलावा बाकी समय में गीता के अनुवाद, ध्यान, जप और धर्मग्रन्थपाठ में काटता हूँ। अक्सर और दूसरे

योग-बीजा

ग्रन्थों का पढ़ना छोड़ दिया है। इससे कुछ विशेष अभाव नहीं अनुभव करता। ऐसी बात नहीं है कि बीच बीच में राजनीतिक चिन्ता, सांसारिक चिन्ता मन को न घेर लेती हो किन्तु इच्छाशक्ति के प्रयोग से इन सबका बहुत कुछ नियंत्रण कर पाया हूँ और इन कार्यों में आसक्ति प्रमत्तः कम हो रही है ऐसा मालूम होता है। यह बात ठीक है कि जेल से बाहर जाने पर मन की अवस्था कैसी होगी इस सम्बन्ध में निश्चिन्त कुछ नहीं कह सकता। किन्तु इस समय ऐसा मालूम होता है कि इन सब बाहरी कार्यों में पहले की तरह व्यस्त नहीं हो जाऊँगा। गीता का अनुवाद समाप्त हो गया है। अब दुहरा रहा हूँ। यह मानो मेरे द्वारा असाध्य कर्म मिट हो गया ! मैं कल्पना नहीं कर सकता या कि यह अतिशय कठिन कार्य मेरी क्षुद्र शक्ति से हो पायगा। किन्तु ऊपर से मानो किसीने मुझे इस कार्य में प्रवृत्त किया था और उसी ऊपर की शक्ति ने ही मेरी क्षुद्र मन-बुद्धि को यन्त्र बनाकर इस महत् कार्य का संपादन किया है। ऐसा मालूम होता है कि गीता का अनुवाद बराब नहीं हुआ है। अब छपा सकूँ नहीं छुटकारा मिलेगा। अनुमति के लिये गवर्नमेंट के पास दरखास्त भेजी है। इसके बाद क्या करूँगा अभीतक निश्चय नहीं कर सका हूँ। ईसोपनिषद् पढ़ी। अभी इसका अनुवाद करना मेरे लिये संभव नहीं मालूम होता। विचार करता हूँ कि Essays on the Gita (गीता-प्रबन्ध) की बातों को संक्षिप्त रूप से दूसरे क्रम में सज्जित करके एक पुस्तक लिखूँगा। क्योंकि अनुवाद बहुत कुछ शाय्विक हुआ है; साधारण जनता के लिये अधिक सरल और संक्षिप्त किया जा सकता है; और एक बात

योग-दीक्षा

यह है कि हमारे देश की साधारण जनता प्रबन्ध-रूप में गीता पढ़ने की बिलकुल ही अभ्यासी नहीं है। श्रीअरविन्द के वक्तव्य को श्लोक-क्रमानुसार लेकर टीका की भाँति विवृत करने से साधारण लोगों को समझने में सुविधा हो सकती है। इस संबंध में श्रीअरविन्द की सम्मति जतलाइयेगा। श्रीअरविन्द के योग का अनुसरण करने में क्या इस प्रकार के कर्म को भी छोड़ना होगा ?

ध्यान से खूब लाभ और आनन्द पा रहा हूँ। जो उपदेश आप लोगों से मिले हैं और मिल रहे हैं उन्हींका बार बार ध्यान करना हूँ। बीच बीच में भीतर से अन्तःप्रेरणा या झलक-सी अनुभव करता हूँ और उसके फलस्वरूप जो बातें कच्ची थीं वे दृढ़ और स्पष्ट हो जाती हैं। भीतरी प्रकाश की ये क्रियाएँ बहुत अच्छी लगती हैं। इनको और दृढ़ तथा स्पष्ट करने के लिये धर्मग्रन्थादि का पाठ अच्छा लगता है। श्रीअरविन्द की पुस्तकें, परमहंस रामकृष्ण के उपदेश, चैतन्य-चरितामृत इत्यादि पढ़ता हूँ। इस बार विवेकानन्दग्रन्थावलि पढ़ने की इच्छा है। जिन पुस्तकों के पढ़ने से श्रीअरविन्द के योग को ग्रहण करने में सहायता होगी मैं केवल उन्हीं पुस्तकों को पढ़ना चाहता हूँ। इस संबंध में श्रीअरविन्द क्या उपदेश देते हैं बनलाइयेगा।

अब कई प्रश्न पृच्छता हूँ। साक्षीभाव और अनुमन्ताभाव में कौनसा पहले चाहिये ? साक्षीभाव को दृढ़ करने के लिये मन को शान्त करना आवश्यक है। मन को, चित्त को शान्त करने में इच्छाशक्ति का प्रयोग करना होता है—यह क्या अनुमन्ता का भाव नहीं ? साधकभाव और साक्षीभाव इन दोनोंका सामंजस्य किस तरह किया जाता है ?

योग-दीक्षा

बाह्येन्द्रिय को संयत करने में भी चित्त के निम्न स्तर से नाना प्रकार की चिन्ताएँ उठकर मन को व्याकुल कर देती हैं। दन्हें किस प्रकार से दमन करना होता है? कौनसी चिन्ता या प्रेरणा चित्त के निम्न स्तर में आ रही है और कौनसी जीवात्मा के निकट में आ रही है इसे पहचानने का उपाय क्या है? किसी प्रकार की कोई कसौटी है क्या? साधारण अच्छे बुरे, सब झूठ के मानदण्ड से इनकी जांच नहीं की जा सकती?

देशबन्धु चित्तरंजन का अनुसरण करके ही चरित्र की प्रोफेसरी छोड़कर राजनीतिक क्षेत्र में उतरा था—इस प्रकार से उनका अवस्मात् देहान्त हो जायगा यह बात कल्पनाधीन थी। देशबन्धु के साथ मेरा पहले का कोई परिचय नहीं था—किन्तु उनके राजनीतिक जीवन के अन्तिम कई वर्षों में उनके साथ बहुत कुछ परिचित हो गयी थी। वे कार्य करने में प्रकृति की भौतिक शक्तियों की भाँति—प्रकृति के चन्द्र, सूर्य, जल, झंझावात जिस प्रकार काम करते हैं—वे जिस कार्य को करने का निश्चय कर लेते थे उसमें किसी प्रकार की बाधा से जरा भी विचलित नहीं होते थे। जो महाशक्ति भाग्य पर अवतरण कर रही है चित्तरंजन अपनेको उस शक्ति के हाथों में यन्त्र बना सके थे। किस साधना के बल में वे इस प्रकार में अपनी अहता को छोड़कर अवैयक्तिक रूप से कार्य कर सके थे? चरित्र का और व्यक्तित्व का जो टाँचा वे उपस्थित कर गये उसकी सच्ची शक्ति कहाँपर थी और उसकी त्रुटि कहाँपर थी—ये सब बातें जानने की इच्छा होती है।

योग-दीक्षा

आपकी पुस्तक *The Coming Race* में बहुतसे नये तथ्य पाये। मेरे बहुतसे संदेहों की मीमांसा हुई। आप लोगों ने मानव-जाति के भविष्य-गौरव का जो स्वप्न देखा है वह सफल हो, आप लोगों की साधना सफल हो, मैं आप लोगों का पदानुसरण कर सकूँ। इति।

बिनीत

जनिलबरण राय

पांडिचेरी

३१ जुलाई, १९२५

प्रिय महोदय,

आपका पहले का पत्र भी श्रीअरविन्द को मिल गया था। उसका उत्तर देने में जो हिचकिचाहट थी उसका कारण यह है कि उनके योग के तत्त्व को चिट्ठी के द्वारा ठीक ठीक समझाना कठिन है। खैर, आपके अन्तिम पत्र ने समस्या को बहुत कुछ सरल कर दिया है। क्योंकि आपके लिखने से यह मालूम हुआ कि साधक के अन्दर श्रीअरविन्द के योग की स्थापना के लिये जिन दो चीजों की शुरू शुरू में आवश्यकता है वे आपके अन्दर प्रकट होने लगी हैं—अर्थात् (१) शान्ति और (२) ऊपर के ज्ञान का निर्देश, अन्तर्ज्ञान की क्रिया। समस्त आधार शान्तिप्रतिष्ठ होगा और आधार की समस्त क्रिया नियन्त्रित और चालित होगी (उसी शान्ति के अन्दर आविर्भूत) ऊपर के एक साक्षात् निर्देश की सहायता से—इन दोके होने में श्रीअरविन्द के योग-पथ पर चलना शुरू होना है।

श्रीअरविन्द का योग कठिन किस प्रकार से है, उसकी बाधा-विपत्ति क्या है आपने यह जानने की इच्छा प्रकट की है। ऐसी दशा में थोड़ा यह बतलाने की आवश्यकता है कि साधारण योग या आध्यात्मिक साधना में और श्रीअरविन्द के योग में भेद कहाँपर है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि मनुष्य है देह और प्राण में संश्लिप्त मनोमय पुरुष—mental being involved in life and

योग-दीक्षा

body)। उसकी आध्यात्मिक साधना भी इसलिये साधारणतः मनो-मय स्तर में प्रतिष्ठित और आवद्ध है। इस प्रकार की साधना से मनुष्य प्राण के अन्दर एक सूक्ष्मतर, गभीरतर अनुभूति पाता है। दैहिक प्रतिष्ठान में वह एक उदारतर चेतना पाता है और खूब ऊपर उठने पर अपने मन की सत्ता में एक आध्यात्मिक मुसर्गति प्राप्त करता है, ऊर्ध्वतर सत्य के आदेश को प्राप्त करता है। किन्तु यह जो आध्यात्मिक मन (Spiritual mind) है वह कितनी ही उच्च भूमिका का क्यों न हो, इसके द्वारा कैसी भी सिद्धि प्राप्त क्यों न हो—इस आध्यात्मिक मन में आत्मा का पूर्ण स्वरूप नहीं है। प्रथमतः मन का धर्म है सत्य को खण्ड खण्ड करके देखना—आध्यात्मिक मन में भी इसलिये सत्य खण्ड खण्ड रूप में दीख पड़ता है, मन एक समय में एक विशेष सत्य को ही अत्यधिक बढ़ाकर तथा चरम रूप में ग्रहण करता है; इस सत्य के विरोधी सत्य की या पूरक सत्य की सार्थकता वह नहीं समझ सकता, बहुमुख सत्य का सामंजस्य यहापर नहीं है। इसलिये, द्वितीयतः, साधारण साधना का उद्देश्य होता है जीवन से और जगत् से छुटकारा पाना अर्थात् देह और प्राण के प्रतिष्ठान से क्रमशः अपनेको हटाकर समाधि की चेतना में लुप्त हो जाना। अध्यात्म के साथ जीवन का अर्थात् देह-प्राण का पूर्ण विरोध ही साधारण आध्यात्मिक साधना में प्रकट हुआ है।

श्रीहरविन्द का योग इस मानस पुरुष की सीमा को पार कर ऊपर की एक अन्य भूमिका में साधनाकेन्द्र को स्थापित करना चाहता है। मन के ऊपर की इस भूमिका को उन्होंने विज्ञान या अतिमन का

योग-बीजा

नाम दिया है। अतिमन पूर्ण ज्ञान की भूमिका है। इसकी सत्ता सत्य के साक्षात् स्वरूप से बनी है। जिन विभिन्न विरोधी नाना सत्तों को लेकर सृष्टि और मनुष्य प्रतिष्ठित है उनका मूल सत्य एक परम सत्य के ऐक्य, समन्वय और सामञ्जस्य में विज्ञानलोक या अतिमानसलोक में विधुत है। अतिमन केवल ज्ञान का ही प्रतिष्ठान नहीं है, वह पूर्ण शक्ति का भी प्रतिष्ठान है। सत्य ज्ञान के साथ उसमें सत्य ज्ञान की अव्यय क्रियाशक्ति या सृष्टिशक्ति भी है। श्रीअरविन्द के योग का मूल लक्ष्य है अतिमन के ज्ञान में प्रतिष्ठित होकर उसी ज्ञान की निज शक्ति से मन, प्राण और देह को रूपान्तरित करना, इनकी सत्य सत्ता और सत्य धर्म को विकसित करना।

इस साधना की बाधा और विघाति को अब आप सहज ही समझ सकते हैं। प्रथमतः, इस साधना का अर्थ है मनुष्य के संपूर्ण स्वभाव, विशेषता को अतिक्रमण करने का प्रयत्न। मूलतः, इस प्रयत्न की मूचना में ही इसके विरुद्ध मनुष्य की समस्त प्रकृति उठ खड़ी होती है। देह, प्राण और मन के जितने सब गहरे संस्कार और नैसर्गिक वृत्तियाँ हैं उनमें कोलाहल मच जाता है—वे प्राणपण में खेप्टा करती हैं मनुष्य को नीचे की भूमिका में रखने के लिये, उसको उसकी साधारण प्रकृति की सीमा में ही आबद्ध रखने के लिये। साधक की केवल भीतरी वृत्तियाँ ही नहीं बल्कि बाहर से भी विरोधी शक्तियाँ आकर जुट जाती हैं, और सबेदा उन छिद्रों को खोजती रहती हैं जिनमेंसे होकर सहसा आक्रमण किया जा सके। ऊर्ध्वलोक की एक अवयवछाया न पाने से साधक के लिये इस पथ पर चलना बहुत ही विपत्संकुल है। वह या

योग-दीक्षा

तो मन के संकल्प-विकल्प में पड़कर डुबकियाँ खाने लगता है अथवा अतर्कित भाव से प्राणों के किसी भाग के आकर्षण में पड़कर पथभ्रष्ट हो जाता है अथवा दारौरिक रोगों के आविर्भाव से अकर्मण्य हो जाता है। इस पथ पर निर्भयतया चलने के लिये कुछ शक्तें हैं—ये प्रारंभिक शक्तें जिसके अन्दर पूरी हो गयी हैं उमीके लिये श्रीअरविन्द की योग-साधना संभव है।

प्रथम आवश्यकता है—आत्मसमर्पण। केवल मानुषी प्रयत्न की सहायता में कोई इस योगपथ पर नहीं चल सकता। क्योंकि इस योग का लक्ष्य ही है मनुष्य को मनुष्यत्व के ऊपर ले जाना। साधक अपनी शक्ति के जोर पर अपनी अहता को छोड़कर ऊपर उठ नहीं सकता। इसलिये उसको ऊर्ध्वलोक की शक्ति का आश्रय लेना चाहिये। सर्व-तोभावेन अपनेको उमी शक्ति के हाथों में छोड़ देने में वह शक्ति अवतीर्ण होकर साधना का भार ग्रहण करेगी। साधारणतः समर्पण शब्द में जो समझा जाता है, उसकी अपेक्षा यह समर्पण बृहत्तर और सूक्ष्मतर चीज है। यह केवल हृदय का ही एक भाव नहीं है—बल्कि इस योग में समर्पण को आधार के प्रत्येक स्तर में प्रतिष्ठित करना होता है। आधार के अंग-प्रत्यंग में जहापर जो कुछ भी विरोधी वस्तु है उसे खींचकर बाहर करना होगा, तिल-तिल करके प्रतिमुहूर्त उसको वशीभूत करके अंग-प्रत्यंग को ऊपर की शक्ति के प्रति अर्पित करना होगा। इसके लिये आवश्यकता है अकलात अध्यवसाय की, सजग दृष्टि की, चौकस पहरे की।

दूसरी शक्ति है अव्यभिचारिणी एकनिष्ठा। आधार के प्रत्येक अंग के द्वारा—देह, प्राण और मन के द्वारा—ऊपर की सत्ता के लिये

योग-दीक्षा

अभीप्सा करनी होगी। देह, प्राण और मन के विभिन्न आकर्षक साधक को नाना दिशाओं में खींच ले जाना चाहेंगे किन्तु वह उन प्रलोभनों की ओर दृष्टिपात न करे। सरल शृङ्खला भाव में ऊर्ध्व पथ पर चलने के लिये आन्तरिकतम सत्ता में ऊर्ध्वमुखी अटूट निष्ठा चाहिये।

तीसरी आवश्यकता है सामर्थ्य की। सामर्थ्य का अर्थ है सत्ता के प्रत्येक अंग में नमनशील बनने की योग्यता। साधारणतः मनुष्य के शरीर, प्राण और मन जड़वत्, कठिन और तामसिक होते हैं अर्थात् अम्यस्त बृत्ति और संस्कार के अन्दर एकदम आबद्ध होते हैं—कोई नवीन गतिच्छन्द उनमें सहसा आश्रय नहीं पाता या उनके ऊपर छाप नहीं डाल सकता। किन्तु यदि आधार में मारुत्य और नमनीयता न हो तो उसमें ऊपर का प्रभाव आकरके स्पर्श नहीं कर सकता। आधार के सब अंग नमनीय होने चाहियें ताकि ऊपर की शक्ति सहज में ही उनको अपने जैसा कर सके, इच्छानुसार घुमा-फिराकर बला सके।

यह विषय आज यहीतक। अब आपके प्रश्नों और समस्याओं का उत्तर देता हूँ :-

(१) आपने पूछा है साक्षीभाव और अनुमन्ताभाव की साधना एक साथ किस प्रकार की जा सकती है ? दोनोंमें जो प्रत्यक्ष विरोध दृश्य पड़ता है वह मन के जगत् में है। मन को छोड़कर ऊपर उठने पर साधक इन दोनोंका सामंजस्य सहज ही अनुभव कर सकता है। पुरुष ने प्रकृति को कई भावों से धारण कर रखा है—साक्षी, अनुमन्ता, भर्ता, ईश्वर। ये सभी भाव पुरुष के हैं, जैसा कि गीता कहती है। साक्षीभाव से पुरुष प्रकृति की क्रिया को देखता रहता है, कहाँपर कीन

योग-बीजा

सी शक्ति किस प्रकार से क्रिया कर रही है, उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्य-
वेक्षण करता है और उसके साथ ही जिसे वह नीचे की शक्ति समझता
है उसका परिवर्जन करता है और जिसे ऊपर की शक्ति समझता है
उसका आह्वान तथा अनुमोदन करता है। केवल यही नहीं, इस
प्रकार से क्रमशः पुरुष साक्षीभाव से भर्ताभाव में ऊपर उठता है,
केवल अनुमन्ता न होकर वह प्रकृति का ईश्वर बन जाता है। साक्षी
और अनुमन्ता-भाव में से कोई आगे कोई पीछे नहीं है, दोनों भावों को
ही साथ ग्रहण करके चलना होता है। किन्तु साधना की बिल्कुल
प्रारंभिक अवस्था में संभवतः साक्षीभाव के ऊपर अधिक जोर पड़ता है।

(२) कौनसी चिन्तना या प्रेरणा नीचे के स्तर से आती है और
कौनसी ऊपर के स्तर से आती है इसकी जांच करने के लिये कोई मान-
दण्ड नहीं है—अच्छे-बुरे, सत्य-मिथ्या का साधारण मानदण्ड तो जांच
कर ही नहीं सकता। किन्तु मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि
जिस चिन्तना या प्रेरणा के मूल में वासना और अहंकार होते हैं
वह निम्न स्तर की है—विषाद, सदेह, अभ्रदा ये अशुद्ध निम्न प्राणिक
वृत्तियाँ हैं, शरीर के अन्दर निम्न प्रकृति की क्रिया का आश्रय लेकर
रोग आदि होते हैं, मन की निम्न प्रकृति की अभिव्यक्ति निरर्थक
विचार और व्यर्थ की जल्पना-कल्पना में है। किन्तु असल में कौनसी
ऊपर की और कौनसी नीचे की क्रिया है इसको एक सूक्ष्म स्वयंप्रकाश
अनुभूति की सहायता से समझना होता है। यह सहज वृत्ति साधक
की साधना के साथ साथ स्वयं प्रस्फुटित होती है—यह सतर्क, सजग
दृष्टि का फल है।

योग-दीक्षा

(३) पढ़ने-लिखने या बाह्य कर्म के संबन्ध में कोई बाधा-बंधाया नियम नहीं बनाया जा सकता। यदि कोई कर्म साधना में अन्तराय न हो तो उस कर्म के करने में कोई बाधा नहीं है। केवल इतना ही नहीं, इन सब चीजों की आवश्यकता भी है। श्रीअरविन्द का योग जीवन को और जीवन के आधार को विमर्जन कर देने को नहीं कहता, बरन् उनका आलिंगन करने को ही कहता है; किन्तु एक महीन दृष्टि के द्वारा, एक नूतन भाव से। साधना को सुसमृद्ध करने के लिये जीवा से बहुत से उपकरण लेने पड़ते हैं। राजनीतिक जगत् से दूर होने का अर्थ यह नहीं है कि उस संबन्ध का कोई ज्ञान भी नहीं होना चाहिये। जगत् की धारा क्या है, मनुष्य के समष्टिगत जीवन में शक्तियाँ किस प्रकार से क्रिया करती हैं, प्रकृति की लीला का क्या ढंग है—साधक को ये सभी बातें जाननी होंगी, कम से कम द्रष्टा-रूप से। राजनीतिक क्षेत्र में कर्मलिप्त होने से श्रीअरविन्द इमलिये मना करते हैं कि साधारणतः राजनीति जिन हेतुओं और शक्तियों के द्वारा परिचालित होती है वे साधक की अभीप्सित आध्यात्मिक शक्ति, प्रेरणा और भाव की विरोधिनी हैं। भीतरी जीवन में एक शक्ति की सेवा और बाहर में एक दूसरे प्रकार की शक्ति की सेवा करने की चेष्टा से साधक के अन्दर एक विभ्रूलला पैदा होती है, किन्तु ऐसी बात नहीं है कि इमलिये कर्म-जगत् के ज्ञान का भी परित्याग करना होगा। इसके अतिरिक्त उमर की शक्ति के अवतरण से कभी कभी नूतन भाव से, नूतन प्रेरणा से, नूतन कर्म के कर्मी होने का आह्वान आवे तो उसमें भी साधक को पीछे नहीं हटना होगा।

योग-दीक्षा

(४) चित्तरंजनदास की साधना के संबन्ध में आपने पूछा है। चित्तरंजन की योगसाधना विशेष कुछ नहीं थी और आपने जो कहा है कि वे अपनेको भूलकर अव्यक्तिक भाव में काम करते थे यह भी सर्वथा ठीक नहीं है। चित्तरंजन के भीतर एक जगह पर आन्तरात्मिक ग्रहणशीलता थी। एक जगह पर वे अपनेको बृहत्तर शक्ति की ओर खोल सके थे, इसीके फलस्वरूप कई विश्वशक्तियां उनको यंत्र बनाकर कार्य कर सकी थीं। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे निर्व्यक्तिक हो गये थे। हाँ, यह ठीक है कि बृहत् प्रेरणा ऊपर के एक निर्व्यक्तिक जगत् से आती है। किन्तु व्यक्ति-विशेष का आधार उसे अपने व्यक्तित्व के साथ धुला-मिलाकर ग्रहण करता है। चित्तरंजन के अन्दर यह मिश्र-भाव था—किन्तु बहुतों का व्यक्तित्व बृहत्तर शक्ति का अन्तराय होता है। चित्तरंजन का व्यक्तित्व ऐसा नहीं था। सभी महापुरुष सज्जानतः या असज्जानतः इसी प्रकार ऊपर की शक्ति के या जगत्-शक्ति के यंत्र होकर आधिर्भूत होते हैं। चित्तरंजन इस महाशक्ति के संबन्ध में एक-दम अनभिज्ञ नहीं थे, किन्तु ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि वे पूर्णतः सज्जान थे। कुछ समय और भी यदि वे जीवित रहते तो साधना की सहायता से और भी सज्जान हो सकते थे।

साधारण पाठकों के लिये श्लोक-क्रम से गीता की जो श्रीअरविन्द-कृत व्याख्या आप देना चाहते हैं वह अच्छा ही है। इसमें श्रीअरविन्द की अनुमति है।

श्रीअरविन्द आपको और भी कुछ कहना चाहते थे किन्तु वह

योग-दीक्षा

पत्र बहुत बड़ा हो गया है—इसलिये वह बात अगली बार के लिये रही ।

आशा करता हूँ कि आपका शारीरिक स्वास्थ्य ठीक है । हम लोगों को पत्र मिलने में गोलमाल नहीं होता, उत्तर देने में बीच बीच में बिलंब होता है । आशा है इससे क्षिप्त नहीं होंगे ।

विनीत

नलिनीकांत गुप्त



मान्यवर महोदय,

कुछ दिन हुए आपका पत्र मिला था। यह आशंका मन कीजिये कि पत्र के आने में देर होने से मुझे खेद होता है। हां, यह ठीक है कि मैं आपके पत्र की प्रतीक्षा बड़ी उत्कण्ठा के साथ करता हूँ। किन्तु आप लोगों का परिवेषण इतना प्रचुर होता है कि मुझे शान्ति से बैठकर खाने में कोई आपत्ति नहीं। इसके अतिरिक्त मुझे ऐसा मालूम होता है मानो श्रीअरविन्द मेरे नजदीक उपस्थित रहते हैं, मेरे अन्दर जो कुछ छोटी मोटी बातें हो रही हैं सब देखते हैं और माँ की तरह सावधानी से प्रत्येक जकरी बस्तु की व्यवस्था कर देते हैं। यह केवल मेरी कल्पना हो सकती है किन्तु यह सुनिश्चित है कि इससे मैं एक "अव्य-छाया" पाता हूँ।

ऐसा मालूम होता है कि श्रीअरविन्द का योग कुछ कुछ समझ रहा हूँ। किन्तु इस पथ पर अभी चलना शुरू नहीं किया है। यह ठीक है कि अन्तर में एक शान्तभाव अनुभव करता हूँ। ऊपर के आलोक की क्रिया भी देखता हूँ—किन्तु "ऊपर के साक्षात् निर्देश के द्वारा आधार की सब क्रिया नियंत्रित और चालित" नहीं हो रही है। यह अनुभव करता हूँ कि ऊपर की एक शक्ति मेरे आधार का परिवर्तन कर रही है—परन्तु यह अनुभव अस्पष्ट अनुभूतिमात्र है, साक्षात् निर्देश नहीं। उस शक्ति की क्रिया के संबन्ध में पूर्णतः सञ्ज्ञान नहीं हो सका हूँ। यह

योग-दीक्षा

खूब समझ रहा हूँ कि मेरे शरीर, प्राण और मन के गहरे संस्कार सजीव और सबल हैं और नीचे की ओर खींच रहे हैं पर इसके लिये यथासंभव सजग रहता हूँ। किन्तु यह क्रिया मानसिक बुद्धि और इच्छा के द्वारा करता हूँ—संभवतः बुद्धि के द्वारा ऊपर की शक्ति परोक्ष रूप से कार्य करती है किन्तु साक्षात् निर्देश नहीं मिलता। हाँ, एक बात आश्चर्यजनक है। आपने योग की प्रारंभिक शक्तों में मामध्यं की जो बात कही है उसे मैं अपने अन्दर बहुत दिनों से देख रहा हूँ। मेरी प्रकृति बहुत नमनीय है यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा। मेरे साधारण जीवन में यह कभी दोषरूप में और कभी गुणरूप में दिखायी दी है। किन्तु मेरे अन्दर यह काफी मात्रा में है, इसमें कोई संदेह नहीं। अपने शरीर, प्राण, मन को मैंने कभी तामसिक नहीं पाया है। इसके बाद, आपने अनन्य निष्ठा की बात कही है। इसके संबन्ध में अभी मुझे पूरा निश्चय नहीं हो पाया है। योग के द्वारा आधार के रूपांतर की पुकार मेरी आन्तरतम सत्ता से आ रही है इसमें संदेह नहीं—किन्तु सामाजिक कर्मों की ओर जो तीव्र आकर्षण है वह मुझे किसी क्षण भी विचलित कर सकता है। यह आकर्षण अनेक बार ऊपर के निर्देश के रूप में दिखायी देता है और इसी अवस्था में विशेष बिपद् की संभावना है। इसीलिये गत पत्र में ऊपर की ओर नीचे की प्रेरणा को पहचानने के लिये मान-इण्ड के संबन्ध में पूछा था। खैर, आपने लिखा है कि इसके लिये आवश्यक आन्तरात्मिक कौशल (psychic tact) साधना के साथ साथ स्वयं प्रस्फुटित होगा। उसीकी आशा में सजग और सतर्क रहूंगा।

योग-दीक्षा

आत्मसमर्पण पूर्णभाव से करने का यत्न करता हूँ। इस संबन्ध में कई एक बातों को स्पष्ट कर लेना जरूरी है। उन्हींको पूछता हूँ—आपने लिखा है “आधार के अंग-प्रत्यंग में जहाँपर जो कुछ विरोधी बातें हों उन्हें खोजकर भीतर से बाहर लाना होगा। तिल तिल करके प्रत्येक अणु उन्हें ऊपर की शक्ति के वशीभूत करना होगा।” इस बात को जरा और विस्तार के साथ कहने में अच्छा होगा। इस ऊपर की शक्ति के साथ कामीशक्ति का क्या संबन्ध है? “उन्हें ऊपर की शक्ति के वशीभूत करना होगा” इसका क्या अर्थ है? द्रष्टाभाव से भीतर की क्रिया को कहीं कहीं निरुत्साहित करना होगा इसके साथ समर्पण का क्या संबन्ध है? जो साधक तिल तिल करके प्रति-मुहूर्त आधार के दोषों को खोजकर भीतर से बाहर लाता है और ऊपर की शक्ति के सामने रखता है—उसका बाहरी आचार व्यवहार भी तो साधारण मनुष्यों की तरह नहीं दिख पड़ेगा। उसके भीतर रात-दिन जो होमाग्नि जल रही है उसकी कुछ छाया बाह्य शरीर में भी तो प्रकट होगी—इस बाह्य लक्षण का कुछ निर्देश करें तो अच्छा होगा। “शान्त-प्रतिष्ठ” आधार के बाह्य आचार व्यवहार की कोई विशेषता है क्या? हम लोगों की स्थूल दृष्टि है। बाहरी लक्षण जानने से भीतर की बीज समझने में हमें सुविधा हो सकती है।

आज एक और प्रश्न करूँगा। चित्तरंजन के साधना-प्रसंग में आपने लिखा है “बहुतों का व्यक्तित्व बृहत्तर शक्ति के लिये प्रतिबंध-स्वरूप होता है।” जिनका आधार अशुद्ध है उनके अन्दर भगवान् की इच्छा ठीक तरह से क्रिया नहीं कर सकती, बाधा पाती है, इसका

योग-दीक्षा

क्या अर्थ है ? भगवान् तो केवल शुद्ध आधार को ही यंत्र बनाकर जगत् में अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं करते, अशुद्ध आधार भी तो उनके ही हाथों का यंत्र है, "आमयन् सर्वभूतानि" इत्यादि। ऐसी दशा में जगत् में भगवान् का उद्देश्य सिद्ध करने के लिये शुद्ध आधार की क्या आवश्यकता है ?

साधना के संबन्ध में आज इतना ही। गत पत्र में श्रीअरविन्द मुझे क्या कहना चाहते थे जो नहीं कह पाये। आशा करता हूँ इस बार वे वह बात बतलावेंगे। श्लोक-क्रम से गीता की व्याख्या करने के लिये श्रीअरविन्द की अनुमति पाकर बहुत आनन्दित हुआ। आशा करता हूँ Essays on the Gita का अनुवाद करने में जो शक्ति मुझे सहायता करती थी वही शक्ति मेरे द्वारा इस कार्य का भी संपादन करेगी। गीता के अनुवाद को फिर से देख रहा हूँ। समाप्त होने पर यह कार्य प्रारम्भ करूँगा।

एक बात पूछना भूल गया। आध्यात्मिक साधन के पथ पर चलने के लिये व्याद्यास्वाद्य का कोई नियम आवश्यक है या नहीं ? ब्रह्मचर्य के किन बाहरी नियमों का पालन करने से योग में सहायता हो सकती है यह जानना चाहता हूँ। श्रीअरविन्द का योग विशेष रूप से आन्तरिक योग है। मैं भी व्याद्यास्वाद्य के नियम से कोई विशेष लाभ नहीं समझता तथापि इस संबन्ध में आप लोगों की राय जानने से लाभ होगा। इति।

विनीत

अनिलवरण राय

पांडिचेरी

९ सितम्बर १९२५

प्रिय महोदय,

आधार शुद्ध हो, अशुद्ध हो, छोटा हो, बड़ा हो, किसी प्रकार का क्यों न हो, सभी भगवान् के हाथों के यंत्र हैं—यह बात ठीक है। किन्तु इस कारण आधार आधार में कोई भेद नहीं है अथवा ज्ञान और अज्ञान का, शुद्धि और अशुद्धि का एक ही मूल्य है ऐसी भी बात नहीं। ज्ञान-पूर्वक वा अज्ञानपूर्वक, इच्छा से अथवा अनिच्छा से सभी जीव भगवान् का कार्य कर रहे हैं—अंत में सभी ब्रह्म ही हैं। चोर भी ब्रह्म है, साधु भी ब्रह्म है किन्तु ऐसा होने पर भी चोर होना कभी आदर्श नहीं हो सकता, साधु होना ही साधक का आदर्श हो सकता है। भगवान् के हाथों में अथवा रूप से सभी कार्य करने हैं किन्तु मनुष्य की साधना का लक्ष्य ज्ञानपूर्वक सचेतन भाव से भगवान् का यंत्र होना है। बात उठी थी चित्तरंजन की साधना के प्रसंग में। मैंने कहा था कि चित्तरंजन एक उर्ध्वतर बृहत्तर शक्ति के प्रति ज्ञानपूर्वक अपनेको खोल सके थे। इसीलिये उनके अन्दर भगवान् का एक विशेष स्पर्श, एक विशेष उद्देश्य दीख पड़ा था। एक पहलू से देखने में मूलतः सभी कुछ भगवान् हैं किन्तु एक अन्य पहलू से देखने में यत्न करके भगवान् बनना होना है और जो मनुष्य ज्ञानपूर्वक इस भागवत सत्ता को जितना अधिकृत कर सकता है उसका मनुष्यत्व उतना ही साधक है।

योग-दीक्षा

फलस्वरूप, श्रीअरविन्द के योग की मूल प्रतिष्ठा आधार आधार के पारस्परिक अंतर पर अवस्थित है। आपका जो वैज्ञानिक भाव है वह एक दृष्टि से सत्य होने पर भी श्रीअरविन्द-साधना की भित्ति नहीं है। श्रीअरविन्द-साधना ने दो प्रकृतियों, परा और अपरा, के बीच एक स्पष्ट भेदरेखा खींच डाली है। इन दोके भेद को सर्वदा दृष्टि में रखना होगा और मन, प्राण और देह की समस्त क्रियाओं को उसीके अनुसार नियंत्रित करना होगा। उद्देश्य है अपरा प्रकृति को छोड़कर परा प्रकृति के अन्दर स्थित होना—इसलिये अपरा प्रकृति की सब वृत्तियों को खोजकर देखना होगा, समझना होगा, नियंत्रण अनुष्ठान भाव से उन्हें दूर करना होगा, और परा प्रकृति की गतियों को ग्रहण करना होगा। उनका आवाहन करना होगा। प्रकृति की सब क्रियाएँ ही भगवान् की हैं किन्तु इसलिये सबको धारण करना होगा ऐसी कोई बात नहीं। मनुष्य के अन्दर प्रकृति कहीपर आमुर्ति, कहीपर राक्षसी है, ये सभी क्रियाएँ भगवान् की प्रकृति होने पर भी निम्न प्रकृति का विकास हैं। यहातक कि देवताओं की भी एक निम्नतर और एक उच्चतर स्तर की क्रिया है। यह निम्नतर प्रकृति चाहे किसी भी लोक की क्यों न हो यह भी भगवान् का एक रूपप्रकाश है—इस ज्ञानोपलब्धि को लेकर साधक अपने आधार से निम्न प्रकृति को बहिष्कृत करेगा और इसके स्थान पर उच्चतर प्रकृति की, भगवान् के स्वरूप की प्रतिष्ठा करेगा।

श्रीअरविन्द का योग क्या है और आपको इसके लिये क्या करना होगा—क्या मनोभाव धारण करना होगा यह बात श्रीअरविन्द कहना चाहते थे। आज उसीको वे कहते हैं।

योग-दीक्षा

मनुष्यों में एक क्रमिक विकास चल रहा है। मनुष्य की देह को लेकर देहधर्म, इसके बाद प्राणभोग को लेकर प्राणधर्म विकसित हुआ है; इसके बाद मनःश्रेष्ठ में उठकर मनुष्य ने मन के धर्म को अधिकृत किया है। मनुष्य इन तीन क्षेत्रों में सचेतन हुआ है, ज्ञानपूर्वक प्रतिष्ठित हुआ है। उसका जीवन-धर्म, क्रिया-धर्म सब इन्हीं तीनोंकी अभिव्यक्ति है। उसकी आध्यात्मिक उपलब्धि भी प्रधानतः इसी मन के लोक में संघटित हुई है। आध्यात्मिक मन मनुष्य का अबतक सबसे उच्चतम प्रतिष्ठान रहा है। साधारणतः मनुष्य का यही धर्म विकास है।

किन्तु श्रीअरविन्दयोग मनुष्य को एक और मंजिल ऊपर उठाना चाहता है। मन के ऊपर एक लोक है, वहाँपर सचेतन होकर उसकी सत्ता और धर्म में समस्त जीवन को नूतन रूप से गढ़ना ही श्रीअरविन्द की साधना है। मन के ऊपर जो प्रतिष्ठान है उसे श्रीअरविन्द ने अति-मानस या विज्ञान का नाम दिया है। अब मन और अनिमन के भेद को जानना कुछ आवश्यक है। प्रथमतः, मन का स्वभाव क्या है? मन सत्य को देख नहीं पाता। वह केवल सत्य को इधर उधर खोजता फिरता है, टटोलता रहता है। सत्य का वह जो आभास पाता है वह क्षण्ड अण्ड और संकीर्ण होता है। इसके अतिरिक्त मन जिस क्षण्ड सत्य को या सत्य के आभास को पकड़ता है उसे ही पूर्ण सत्य कहकर उससे चिमट जाता है। सत्य के सब पहलुओं को वह साथ साथ नहीं देख सकता। जिस ओर चलता है वही पहलू उसके लिये एकमात्र सत्य हो जाता है। किन्तु अतिमानस या विज्ञान के स्तर में सत्य के लिये खोज या ढूँढ़ नहीं है। विज्ञान सत्य-प्रतिष्ठ है। सत्य उसमें स्वयंप्रकाश

बोन-दीक्षा

है। अतिमानस सत्य के समस्त अक्षण्ड रूप को देखता है। मन के समस्त जो सत्य परस्पर-विरोधी हैं अतिमानस में वे निबिड़ अटूट सामंजस्य पाये हुए हैं। विविध विरोधी सत्यों का संमेलन-श्रेष्ठ ही है विज्ञान।

किन्तु इस मनोतीत श्रेष्ठ का यथाार्थ स्वभाव क्या है, विज्ञानशक्ति के कर्म की धारणा क्या है? इसकी सम्यक् धारणा तबतक नहीं की जा सकती जबतक कि हम इसके अन्दर ऊपर उठकर अवस्थित नहीं होते। जिज्ञासा करके, प्रश्न करके किसी मीमांसा पर पहुँचना मन का धर्म है। मन की यह वृत्ति जबतक शान्त नहीं होनी, विज्ञानलोक जबतक स्वतः साधक के अन्दर नहीं अवतरण करता, तबतक उसे समझने बूझने का उपाय नहीं—तत्सर्वेष विवृणुते तन् स्वात्म्। इसलिये साधक को शान्त मन से प्रतीक्षा करनी होगी—इस ऊपर के आलोक के अवतरण के लिये। मन के द्वारा, तर्कबुद्धि की सहायता से समस्या पूरी करने के यत्न को दूर करके निर्विचिन्त रहना होगा—मब समस्या अपने आप मीमांसित हो जायगी जब कि ऊर्ध्वलोक का यह ज्ञान प्रस्फुटित होगा।

अतिमानस के अवतरण के लिये, उठकर इसमें अवस्थित होने के लिये क्या करना होगा यह बात अब आपको संक्षेप में कहना है।

प्रथमतः, समस्त आधार को शान्तप्रतिष्ठ करना होगा। भीतर में अटूट अचंचल प्रसन्नता स्थापित करके उसके अन्दर सर्वदा ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा जगाये रखनी होगी। यह अभीप्सा बितावेग या व्याकुलता नहीं, यह अन्तरात्मा से निःसृत अविकल्प सरल जाग्रत् तपस्तेज की शिक्षा है। अन्तरात्मा को ऊपर की ओर झोल रखना होगा, ऊपर के स्पर्श के लिये हमें सर्वदा शान्त, सजग, प्रस्तुत रहना होगा।

योग-दीक्षा

इसके बाद आधार के विभिन्न स्तरों की क्रिया को देखना होगा। मन के अन्दर शान्ति स्थापित करनी होगी। मन की क्रिया से अपनेको पृथक् कर रखना होगा। मन की गंभीरता में शान्तप्रतिष्ठ होकर मन की बाहर की क्रियाओं को अपने बाहर की चीज समझना और अनुभव करना होगा और जो चीज निम्नप्रकृति की क्रिया मालूम होगी उसे सजग दृष्टि से, अकुंठ भाव से दूर करना होगा। निम्नप्रकृति की वृत्तियों को, वे जब जरा भी प्रकट हों, अणुमात्र आश्रय न देकर, शान्त भाव से उदासीन होकर भाड़ फेंकना होगा। एक दिन या अल्प समय में यह कार्य नहीं होता, धीरे और स्वस्थ भाव से चलना होगा। इस प्रकार निम्नप्रकृति जितनी परिष्कृत होगी मन के अन्दर ऊपर की प्रकृति की ज्ञानशक्ति धीरे धीरे उतनी ही प्रकाशित होगी। निम्न वृत्तियों को पहचानने और विसर्जन करने के लिये जिस प्रकार निपुणता चाहिये उसी प्रकार ऊपर की वृत्तियों को पहचानने और ग्रहण करने का कौशल सीखना चाहिये। एकनिष्ठ होकर, दृष्टि को सजग रखकर, एकमात्र ऊपर के प्रकाश और शक्ति पर निर्भर होकर चलते रहने से यह नैपुण्य और कौशल धीरे धीरे आ जायगा।

मन की वृत्तियों के संबंध में जो बात है वही प्राण की वृत्तियों के संबंध में भी है। जहां एक तरफ बासना कामना की तरंग से अपने आपको अलग करके ऊपर उठना होगा, वहां दूसरी तरफ एक प्रशान्त गंभीर स्थिति का आश्रय लेकर प्राण की सब गतानुगतिक प्राकृत वृत्तियों को पहले पहचानना होगा, उनका अवलोकन करना होगा, और उन्हें दूर करके चलना होगा। इसके बाद ऊपर की शक्ति, ऊपर के धर्म का आह्वान करना होगा।

योग-दीक्षा

इसी प्रकार शरीर के स्तर में भी ऊपर की प्रकृति और नीचे की प्रकृति की क्रिया को पहचानना होगा, “उदासीन” भाव से एक ओर तो निरीक्षण करना होगा और दूसरी ओर नीचे की प्रकृति का परिवर्जन करके चलना होगा। फिर ऊपर की प्रकृति को उतारना होगा, किन्तु यह बाद की बात है।

अभी तो आपको अधिक ध्यान मन के क्षेत्र में देना होगा क्योंकि वर्तमान बाधाओं के आने की अधिक संभावना इसी क्षेत्र से है। कारण, आपके अन्दर ज्ञानलिप्सा है और वह आपको विचार वितर्क के पथ पर ले जाती है। नाना प्रकार की समस्याएँ आपके मन में उठती हैं और उनकी एक मुचार्क और युक्तिमिद्ध मीमांसा न पाने से आपका मन तृप्त नहीं होता। ज्ञान की आवश्यकता है, किन्तु विचार वितर्क व युक्ति के अनिरिक्त एक पूर्णतर अपरोक्ष सत्य ज्ञान पाने के लिये आवश्यक है विचार वितर्क को, युक्तिप्रवणता को शान्त करना। मस्तिष्क को सब प्रकार के बाधन्य से मुक्त करके ऊपर की ओर खोल रखना और ऊपर की ज्योति के लिये प्रतीक्षा करना।

आपने यह जानना चाहा है कि ऊपर की शक्ति कालीशक्ति है या नहीं। कालीशक्ति का अर्थ यदि विश्वशक्ति है तो उसके अन्दर ऊपर और नीचे की दोनों शक्तियाँ हैं। किन्तु साधक काली के निम्न रूप को प्रणाम करके दूर हटा देगा। केवल मा के ऊपर के रूप की अभीप्सा करेगा।

साध के संबन्ध में श्रीअरविन्द का कोई विधिनिषेध नहीं है। शरीर के लिये जब वैसी आवश्यकता हो उस प्रकार का आहार कीजिए-

योग-दीक्षा

वेगा । साक्षात्साध पर साधना निर्भर नहीं करती । किन्तु यदि कोई भीतर की किसी विशेष अवस्था के अनुसार किसी विशेष नियम में रहने की आवश्यकता अनुभव करे तो दूसरी बात है ।

बिनीत

नलिनीकान्त गुप्त



सबिन्धु निवेदन,

बाह्य अनुष्ठान, देहगत तपस्या, नियम-संयमादि की विशेष आवश्यकता श्रीअरविन्द के योग में नहीं। केवल शारीरिक या नैतिक निग्रह से कोई बहुत बड़ी चीज प्राप्त नहीं होती। शारीरिक या नैतिक निग्रह प्रवृत्ति को जोर-जबर्दस्ती में दबाते हैं। उससे बाहर में शुद्धि और सात्त्विकता का भाव आता है किन्तु भीतर में अशुद्धियाँ जमी रहती हैं। गीता इस प्रकार के निग्रह का अनुमोदन नहीं करती—‘निग्रहः किं करिष्यति।’ बाह्य नियम-संयम की विशेष आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है आन्तरिक नियम-संयम की। वह बिल्कुल भिन्न प्रकार की चीज है।

प्रकृति का नियम पालन करना हमारा आदमं बिल्कुल ही नहीं। साधारण जीवन प्राकृत जीवन है। प्रकृति के नियमों के ऊपर उठना ही योग का लक्ष्य है।

समाज या देश के लिये कर्म करने के साथ योग का कोई अंगान्ग-संबन्ध नहीं। कर्म-योग के स्तर पर जब साधक रहता है तब समाज या देश उसके कर्म का क्षेत्र मात्र हो सकता है, इससे अधिक नहीं। असली लक्ष्य तो भीतर में एक नये सत्य को पाना और प्रतिष्ठित करना है। इस नूतन सत्य में कर्म की नयी प्रेरणा, नये ढंग और लक्ष्य दिखायी देंगे। इस भीतर के सत्य के अनुसार बाहरी कर्म और जीवन एक

योग-दीक्षा

नये ढांचे में ढल जायेंगे। उस जीवन में झुंझला किस प्रकार की होगी उसकी कुररेखा अभीसे खींचने की कोई आवश्यकता नहीं। पहले आवश्यक है आन्तरिक शुद्धि, अन्तर में सत्य की प्रतिष्ठा—नये जीवन की बुनियाद अन्तर में ही है। पहले वह ठीक और पक्की होने से उसकी प्रतिभा और शक्ति और छन्द क्रमशः बाहर आवेंगे और जीवन को नये ढंग से गढ़ेंगे।

आपने लिखा है कि आप आनन्द पा रहे हैं तो बड़ी अच्छी बात है। आनन्द को पक्का करना होगा किन्तु यह बात याद रखनी होगी कि आनन्द ही सब कुछ नहीं है।

आत्म-समर्पण के संबन्ध में आप जरा विचलित हुए हैं किन्तु यह चीज सहज ही में नहीं होती। धीरे धीरे तिल तिल करके असीम धैर्य के साथ इस चीज को पूर्ण से पूर्णतर, गभीर से गभीरतर करना होता है। यह चीज समय-सापेक्ष है और साधना के अन्त तक चलती रहती है।

विनीत

नलिनीकान्त गुप्त

पॉडियेरी

१२ अक्तूबर १९२५

प्रियवर,

आपने लिखा है कि आपको इस समय ऐसा मालूम होता है कि श्रीअरविन्द-योग के साथ केवल राजनीतिक कर्म ही नहीं बल्कि किसी प्रकार का भी कर्म नहीं चल सकता। यह आपकी धारणा ठीक नहीं। राजनीतिक कर्म और राजसिक प्रवृत्ति के अन्य कर्म बेशक इस योग के साथ नहीं चल सकते। इस योग में गड़ना होता है अन्तर्मूल भाव और उसका ही नूतन दृष्टि-कोण। राजसिक कर्म में अन्तर की योग-वृत्ति की रक्षा नहीं होती। वह बार बार भंग हो जाती है। इस योग के साथ राजसिक कर्म के न चल सकने का यह प्रथम कारण है। दूसरा कारण, राजनीतिक कर्म और अन्यान्य समजातीय राजसिक कर्मों के क्षेत्र में आधुनिक शक्तियों का प्रभाव है। ये क्षेत्र उनके भी क्षेत्र हैं, मनुष्य को मलिन प्रवृत्ति के पाश में बांधने और अन्ध करने का, सत्य जगत् से दूर रखने का, अबसर वे इन्हीं क्षेत्रों में पानी है। प्राण-जगत् की आधुनिक शक्तियों की दृष्टि इस योग के प्रति शोकभी रहती है। देवजीवनेच्छु साधक को नष्ट करने के लिये वे हमेशा ही छिद्र खोजती हैं। राजसिक कर्म के क्षेत्र में उतरने से साधक को इनके क्षेत्र में इनके गड़ के अन्दर जाना पड़ता है। तब वे साधक के अन्दर प्रवेश करने के लिये छिद्र पानी है। साधक के मन या प्राण में आघात करके या उनपर प्रभाव-विस्तार

योग-दीक्षा

करके वे उसे योगव्युक्त कर सकती हैं, उसके शरीर को नष्ट कर सकती हैं, काम-क्रोध-लोभ-अहंकार को बढ़ाकर सारी जिन्दगी के लिये उसको राजसिक कर्म-समुद्र में डुबो सकती हैं। राजनीतिक कर्म के साथ इस योग का सम्बन्ध कभी नहीं रखा जा सकता, उसका एक और कारण पूर्वपत्र में श्रीअग्रबिन्द ने दिया है, वह भी सत्य है और यह भी सत्य है।

जिन कर्मों में बहुत लोगों के साथ मिलकर चलना नहीं होता, केवल अपनेको ही लेकर धीरे-धीरे शांत भाव से आत्मस्थ होकर चलना होता है, जैसे लिखना-पढ़ना इत्यादि मानसिक कर्म वा विभिन्न प्रकार के शारीरिक कर्म, वे इस योग के साथ चल सकते हैं। योगसाधना करके हम जिस सत्य को पाना आरंभ करते हैं उसे जीवन और कर्म के अन्दर मूर्तिमान् करना होता है, चरितार्थ करना होता है। इसलिये सब प्रकार के कर्म छोड़ देने से इस योग की सिद्धि जीवन में रूप धारण नहीं कर सकती।

कभी-कभी योग की विशेष अवस्था में सब कर्मों का कुछ समय के लिये त्याग करने की आवश्यकता अनुभव हो सकती है—जब कि साधक को भीतर में आत्मस्थ होकर सब चीजों से मन-प्राण को समेटकर हृत, एकाग्र गभीर साधना की आवश्यकता प्रतीत हो। कभी-कभी साधनाकाल में ऊपर की नयी चेतना में उठने पर साधक को समझने-बुझने की प्रवृत्ति को बदलना होता है। उस समय भी पुरातन प्रवृत्ति के कर्म ठीक नहीं बैठते। जीवन में नूतन सम्यक् दृष्टिकोण न प्राप्त होने से भी एक अल्पकालिक उदासीनता आ सकती है।

“साधना को समृद्धिशाली बनाने के लिये जीवनशेष से बहुत से उपकरण लेने होते हैं” यह कथन एक प्रकार से बहुत ही ठीक है।

योग-दीक्षा

बुद्धि इत्यादि मानसिक वृत्तियाँ जितनी अधिक मार्गित और परिपुष्ट होंगी योग के लिये उतनी ही सुविधा होगी। पर एक दूसरी दृष्टि से उतनी ही असुविधा भी होगी। यदि मानसिक वृत्तियाँ सुपुष्ट, सुनिश्चित हों और मन में मूझ और यथार्थ विश्लेषण-शक्ति हो तो ऐसी दशा में साधक साधनालब्ध सत्य के परिपूर्ण ऐश्वर्य का बहुत पहचानों से देख सकता है, व्यापक भाव से उसे ले सकता है और इस प्रचुर सम्पद से अपनी मानस सत्ता को समृद्ध कर सकता है। श्रीअरविन्द अपने जीवन में बुद्धि-वृत्तियों को खूब विकसित और मूझ कर सके थे, इसी कारण वे सत्य की विपुल सम्पदाओं को साधना के अन्दर ग्रहण कर सके हैं। एक दूसरी दृष्टि से परिणत मन साधना के लिये बाधा है क्योंकि परिपुष्ट मरावृत्ति मदेह, द्विधा और तर्क-विनर्क का घर है। बुद्धि के द्वारा कष्ट-कल्याण करके ममजों के प्रयास को वह सहज ही नहीं छोड़ सकती। जान होकर नूनन चेतना के स्तर में उठकर अपनी भूमि के ऊपर अधिकार को महज ही छोड़ना नहीं चाहती।

केवल मन या बुद्धि में ही नहीं प्राण के क्षेत्र में भी परिपुष्ट बृहत् प्राण एक दृष्टि से साधना का सहायक है और दूसरी दृष्टि से बाधक। प्राण जितना ही विपुल होगा उतना ही साधना के वेग और प्राचुर्य को धारण करने को शक्ति देगा; किन्तु दूसरी ओर उतना ही निम्नमूल और भोगरसायन होकरके साधक को ऊर्ध्वानि के पथ में बाधक होगा। जड़ स्तर की भी ऐसी ही बात है। मुदुह और बृहत् जड़-मत्ता या देह एक ओर साधना की अवल अटल भित्ति है, दूसरी ओर वह वैसे ही जड़ तथा अन्य बाधा है।

योग-दीक्षा

पहले से साधक की वृत्तियों का ऐसा कोई विकास न होने पर भी साधना के द्वारा मन आदि सब स्तरों की सब वृत्तियों की पूर्णता प्राप्त हो सकती है। विज्ञान की संजीवनी शक्ति के संस्पर्श से सुप्त, अपरिणत और मुकुलित वस्तुएं प्रस्फुटित हो जाती हैं। यह विकास साधक की सत्ता के विशिष्ट धर्म में, उसकी विशिष्टता के गठन की परिधि में, उसके व्यक्तित्व और आत्मसत्ता के रूप को समृद्ध करता है। केवल पहले से सत्ता के सर्वतोमुख विकास और सुशिक्षा होने से यह पूर्णता व्यापकतर भाव में, विशालतर भित्ति के ऊपर, प्राप्त होती है।

आपकी साधना में जो निरन्तर बेसिरपैर के विचारों के प्रति आकर्षण बाधा-रूप में लड़ा हुआ है वह गतिशील मन का स्वभाव है। यह मन एक विचार के बाद दूसरे विचार का अनुसरण करता है, एक कल्पना के बाद दूसरी कल्पना खड़ी करता है। इसका प्रयत्न होता है कर्म के अन्दर चक्कर काटना, कर्म के द्वारा अपनेको प्रकट करना। योग की दृष्टि से मन की यह वृत्ति केवल शक्ति क्षय करती है, इसे शान्त करना होगा। यह साधनासापेक्ष है, समयसापेक्ष है और इसे धीरे-धीरे ही किया जा सकता है। आपने मार्ग पकड़ लिया है। धीरे-धीरे साधना करते चलिए। बार-बार मन को लौटाकर आत्मस्व करते-करते इसके वेग पर विजय प्राप्त होती है। मनोमय पुरुष विचारों के इस भंडार से बाहर और निर्लिप्त रहने लगेगा और साक्षीरूप से देखेगा। विचारों की इस क्रीड़ा को प्रकृति का कार्य समझकर विद्व की तरंग के रूप में देखेगा। पुंड्र अपने अनुमोदन को, सारतस्व को, ग्रहण करेगा। यह अभ्यास करते-करते मन क्रमशः स्वयं शान्त हो जायगा।

योग-दीक्षा

आप यह जानना चाहते हैं कि कर्म के साथ श्रीअरविन्द के योग का सामंजस्य किस प्रकार रखना होगा। साधना के प्रारंभ में इसकी आवश्यकता उतनी नहीं, क्योंकि प्राथमिक स्थिति में साधक दो अवस्थाओं के बीच में झूलता रहता है। जब वह साधना करता है तब वह अपने आपको ऊपर की चेतना के स्तर में रखता है और जब साधना नहीं करता तब सहज वृत्ति के वश में साधारण भाव में चलता है। बाद में साधना की प्रगाढ़ अवस्था में वह जितनी अधिक गहराई में जाता है ये दो अवस्थाएं उतनी ही परस्परविरोधी हो जाती हैं और बिना सामंजस्य के काम नहीं चलता। आपका यह प्रश्न यदि कौतूहल-मात्र हो, यदि केवल सिद्धान्त जानने की इच्छा से हो, तो फिलहाल इसका उत्तर न देने से भी कोई हर्ज न होगा, क्योंकि योग की साधना में सिद्धान्त का कुछ मूल्य नहीं। अनुभूति, दर्शन, अभिज्ञता का मूल्य है। योग-पथ को समझने और पहचान करने के लिये श्रीअरविन्द के योग के मूलतत्त्व के सिद्धान्त को जानना आवश्यक है। किन्तु जब आदमी साधना का अभ्यास करता है उस समय सिद्धान्त की साधकता नहीं रहती। उस समय तो अनुभव ही सब कुछ होता है। यदि आपका प्रश्न कौतूहलजनित न हो, यदि आप सचमुच ही कर्म और साधना के द्वन्द्व के बीच में अटके हुए हो तो बाधा के वास्तविक रूप को स्पष्ट लिखने पर श्रीअरविन्द तत्संबन्धी पूरी व्याख्या करके बतलायेंगे।

आपका प्रीतिकामी

शारीन्द्रकुमार चौध

पांडिचेरी

२८ नवम्बर १९२५

(प्राप्तिदि-१५ दिसम्बर)

प्रियवर,

आपका पत्र यथामय मिला और मैंने उसे पढ़कर श्रीअरविन्द को मुनाया। इतने दिनों के बाद प्रत्युत्तर में उन्होंने जो कुछ कहा उसे आज लिख रहा हूँ। आपने लिखा है कि साधना की शान्त और संतुलित अवस्था के साथ बाहरी कर्म का सामंजस्य सहज ही नहीं होता—यह बात ठीक है। इस प्रकार के सामंजस्य के लिये और सब स्थितियों में आन्तरिक अवस्था को अधुण बनाये रखने के लिये बहुत साधना की आवश्यकता है। किन्तु यह जो असामंजस्य आता है और साधना टूट जाती है, इसके दो कारण हैं। एक तो है पुरातन अशान्त राज-सिक और बहिर्मुख कर्म; और दूसरा है बहिर्जगत् की परिस्थिति—अशुद्ध वातावरण। आपकी चिट्ठी पढ़कर आपके वक्तव्य से मालूम होता है कि बाहरी कर्म से इस असामंजस्य की, इस व्याघात की, उत्पत्ति होती है, किन्तु आपकी अनुभूति देखकर मालूम होता है कि यह असामंजस्य कर्म के कारण उतना नहीं है जितना कि अस्पताल के वातावरण का फल है।

पहले मैं कर्म के साथ साधना के विरोध की बात कहता हूँ। इस विरोध को दूर करना आसान नहीं है। कारण, हम लोग साधना द्वारा एक उच्चतर ज्ञान में, चेतना में,—एक शान्त अन्तर्मुखी सूक्ष्म चेतना

बोध-दीक्षा

में—कमल उमर उठते हैं। पुरातन जीवन और तत्संबन्धी कर्म निम्न ज्ञान में, स्थूल चंचल वासनात्मक शक्ति की क्रिया में, मंचटित होते थे। हमारी सत्ता के दो पहलू हैं। एक है शान्त, कूटस्थ और स्थिति-शील। दूसरा है गतिमय और क्रियाशील। साधना की प्रारंभिक अवस्था में शान्ति, शक्ति इत्यादि जो कुछ हम लोग पाने हैं उसको हम इस कूटस्थ चेतना में ग्रहण करते हैं, वही पहले शान्त होती है तथा नूतन छन्द में स्वर बांधती है। इस अवस्था में जीवन कुछ हद तक दुबिधा में पड़ जाता है। साधना द्वारा अन्तर की सत्ता में शान्ति, व्यापकता और शक्ति आती है परन्तु कर्म द्वारा बाहर की क्रियात्मक सत्ता पुरातन अभ्यास से—वासना, चंचलता, आवेग, अधीरता से—प्रेरित होती है। इसलिये जब साधक साधना-ध्यान के उपरान्त कर्म में प्रवृत्त होता है तब कर्म का चंचल जीवन जो तरंग उठाना है उसकी चाप से साधक की कूटस्थ सत्ता बहिर्मुखी हो जाती है, शान्त निबिड़ स्थिति को छोड़कर स्थूल में उतरने के लिये बाध्य होती है। इसके फलस्वरूप साधना की धारा भी उस समय के लिये टूट जाती है और यत्न से बांधा हुआ स्वर विगड़ जाता है। इस प्रकार उतार चढ़ाव बहुत दिनों तक चलता रहेगा, तबतक जबतक कि ऊपर के बार बार के स्पर्श से आधार की भीतरी और बाह्य सत्ता में शान्ति अटल भाव से स्थापित न हो जायगी। समस्त आधार के दाढ़ और शान्त होने पर जो शक्ति, ज्ञान और आनन्द अवतरण करेंगे वे ही अन्त में समस्त मानवाधार को ऊर्ध्वमुख और व्यपान्तरित करके एक स्वर में, ऊपर के छन्द में, बांध देंगे। कर्म के साथ, बाहरी अशुद्ध वामनात्मक

योग-दीक्षा

कर्म के साथ, इस योग का सामंजस्य नहीं होता, इसी कारण हम कोय बाध्य होकर सब चीजों से दूर हटकर एकान्त में रहते हैं और नूतन जीवन की भित्ति गढ़ने हैं। केवल इसी योग में नहीं, सभी योगों में शुरू शुरू में यह विशेषतया अनिवार्य होता है।

दूसरी बात, पारिपाश्चिक स्थिति की है। साधक जब साधना करता है तब उसके चारों ओर एक शान्त उज्ज्वल वातावरण की सृष्टि होती है, साधक के योग के विकास के साथ यह नूतन जगत् उसके चारों ओर दृढ़तर निगूड़तर होता जाता है। दूसरी ओर सांसारिक, राजसिक, वासनात्मक वा तामसिक मनुष्य के चारों ओर उसका अशान्त और अगूढ़ वातावरण रहता है। साधक जब अपनी सीमा छोड़कर इस निम्न जगत् की सीमा के अन्दर आता है तब उसका यह सूक्ष्म निबिड़ जगत् आदोलित हो उठता है। उसका शान्त रसात्मक वातावरण अगूढ़ वायु-तरंग से आदोलित होकर नष्ट हो जाता है। साधक को ऐसा मालूम होता है मानो उसका सब कुछ खो गया हो। मानो वह स्कुल में उपर पड़ा हो। तब उसको फिर से मन के भाव को गढ़ने की चेष्टा करनी पड़ती है, पूर्वं सम्पद् को फिर से पाने के लिये। वह बाहरी वातावरण एक आक्रमण की भाँति आता है और सभी चीजों को मलिन और अन्धकारमय कर डालता है। इस प्रकार की क्रिया बहुत दिनों तक चलेगी, तबतक जबतक कि साधक अपनी परिशुद्ध क्रियात्मक सत्ता में भी ऊपर के लोक की शान्ति, शक्ति और ज्ञान पाकर सुदृढ़ नहीं हो जाता, और विरोधी परिस्थिति के अन्दर रहते हुए भी उसको निर्विषित करना नहीं सीख लेता। तब फिर ह्जार

योग-दीक्षा

बिरोधी वातावरणों अथवा शक्तियों के चारों ओर रहने पर भी वे साधक पर आक्रमण नहीं कर सकतीं।

इन्हीं सब कारकों से हमने इस प्रकार लोगों में दूर एक केन्द्र या साधना-पीठ का निर्माण किया है। पुराने योगी और ऋषि भी बस्ती और संसार का त्याग कर निजंन में निवास करते थे, उसका कारण भी यही है। वे लोग या तो एकान्त में एक-एक मनुष्य अपने सरल और शुद्ध वातावरण में निविष्ट रहकर साधन-जीवन धीरे धीरे गढ़ते थे अथवा एकत्र होकर सह-साधक मिलकर मठ-प्राश्रम बनाकर वास करते थे। इस प्रकार संघबद्ध होकर रहने से सबके मिलित ऐक्य से उन लोगों के चारों ओर एक पारमार्थिक गूह बन जाता था जिसके अन्दर निविष्ट रूप से साधन-सम्पद् कमाना बहुत सहज होता था।

ऐसी बात नहीं है कि संसार में रहकर कर्म के साथ साधना चलेगी ही नहीं। हा, अधिकांश स्थलों में वह नहीं चलती, ऐसा हम लोगों का अनुभव है। जीवन में एक समय ऐसा भी आ सकता है जब कि कर्म और योग एकदम मेल नहीं खाते। सभी ओरों में और सबके लिये यह लागू नहीं है। आप बाहर आकर क्या करेंगे, किम प्रकार जीवन और योग में मेल मिलाकर चलेगें, कितना कर्म छोड़ना होगा, कितना रखकर चलना होगा—इन सबको बाद में देखेंगे। ये आपके ही मोड़ने की चीजें हैं, सब पहलुओं को देखकर आपका ही इन्हें स्थिर करना होगा।

शुभाकांक्षी
बारीन्द्रकुमार घोष

पांडित्येरी

११-४-१९२६

प्रियवर,

ग्राम-निवास में परिवार-परिजन के बीच रहकर साधना करने की मुविधा-अमुविधा आप स्वयं देख पायेंगे, जब कि आप वहां शीघ्र ही जा रहे हैं। आपके परिवार की स्थिति जानकर ऐसा मालूम नहीं होता कि इसमें रहकर साधना की शान्ति और मनोभाव को सुरक्षित रखते हुए जीवन-यापन करना संभव होगा। बिशेषतः ग्राम-मंगलन का कार्य करने के लिये ग्रामवासियों के साथ बिचरों का आदान-प्रदान करना पड़ेगा, उनके स्तर पर उतरकर उनकी अवस्था और मनोभाव के साथ अपने आपको अनुकूल बनाकर चलना होगा। ऐसा करने पर योग की अन्तर्मुखता और शान्ति की रक्षा करना क्या सरल बात है? इसके अनिरिक्त यदि आपकी "केन्द्रित योगचेतना" प्रस्तुत हो जाय तो ऐसी दशा में आपके भाव का दबाव उन लोगों को सहना पड़ेगा, आपको भी उन लोगों का स्पर्श चंचल कर देगा। इस दृष्टि से भी ऐसा मालूम नहीं होता कि ग्राममंगलन और आपकी साधना का झुक में मेल बैठेगा। जबतक साधक उच्च स्तर में उठकर एक ऊर्ध्वस्तर की शान्त सत्यस्थित समता को नहीं पा लेता तबतक उसके द्वारा साधना के साथ मेल बिठाकर ऐसा कार्य नहीं चल सकना जो मारे मन-प्राण को लगा-कर करने योग्य कोई बड़ा कार्य हो। अतितुच्छ छोटा मोटा यांत्रिक कार्य चल सकता है, ऐसा कार्य जो निर्दिष्ट बंधे हुए कार्यक्रम से स्वयं

योग-बीजा

अनायास चल सकता हो, उदाहरणतः सामान्य नोकरी या डाक्टरी का कार्य, लिखने पढ़ने का कार्य (दूसरेके साथ संपर्क न रखकर) भी चल सकता है।

आप एक बार यहाँ आकर श्रीअरविन्द से भेंट करें, संभव है कि उनके साथ बातचीत में कोई हल निकल आवे। कुछ ही दिनों में हम आपको सूचित करेंगे कि आपका कब आना ठीक होगा। श्रीअरविन्द ही आपके यहाँ आन का दिन ठीक करके बतलावेंगे। तबतक आप गांव में रहकर देखिये कि साधना कैसे चलती है, इसका भी एक अनुभव हो जायगा।

भवदीय

बारीन्द्रकुमार घोष

श्रीअरविन्द के दर्शन

श्रीअरविन्द की अनुमति पाकर २४ जून १९२६ को मैं पांडिचेरी में उपस्थित हुआ। उसी दिन श्रीअरविन्द के प्रथम बार दर्शन और चरणस्पर्श करके मैं धन्य हुआ।

अनिलवरण राय

अदिति कार्यालय के प्रकाशन

१. 'अदिति'—त्रैमासिक पत्रिका	५)	६. वार्दिक
२. पांडिचेरी के परमहंस	१)	
३. अदिति माता	१)	
४. अमृतबिन्दु	
५. माँ की बातें (उर्दू)	
६. नये वर्ष की प्रार्थनाएं	१)	
७. दुर्गास्तोत्र	१)	
८. विचार और साधना	III)	
९. इयानन्द	III)	
१०. चार साधन	II)	
११. योगविचार	2II)	
१२. योग और उसके विकास (उर्दू)		

वेद-रहस्य

श्रीअरविन्द के तीन महान् ग्रन्थों—The Life Divine, The Synthesis of Yoga, The Secret of the Veda—में से तीसरे का यह अनुबाद है। प्रस्तापनिधि की आयोजना द्वारा श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस में छप रहा है और नवम्बर, १९४८ तक प्रकाशित हो जायगा।

